श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला–२१

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत

तत्त्वार्थसार

•

सम्पादक

राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त, अनेक ग्रन्थोंके संशोधक, सम्पादक एवं टीकाकार

पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य

साहित्याध्यापक, श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय, सागर

•

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

डुमरावबाग, अस्सी, वाराणसी–५

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, न्यायाचार्य, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

●

प्रकाशक :
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरावबाग, अस्सी
वाराणसी–५

●

प्रथम संस्करण : २१०० प्रति
महावीर-जयन्ती
चैत्रशुक्ला १३, वि० सं० २०२७
वी० नि० २४९६
१९ अप्रैल, १९७०

●

मूल्य . छह रुपये

●

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

सात माह पूर्व सितम्बर १९६९ में **'समयसार-प्रवचन'** का और दिसम्बर १९६९ में मेरी जीवनगाथा प्रथम भाग के चतुर्थ संस्करण का श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन हुआ था। आज महावीर-जयन्तीके पुण्यावसरपर **'तत्त्वार्थसार'** प्रकट हो रहा है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है।

मूल **'तत्त्वार्थसार'** उन्हीं आचार्य अमृतचन्द्रकी कृति है जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन ग्रन्थोंपर मार्मिक टीकाएँ लिखी है तथा **'पुरुषार्थसिद्धयुपाय'** जैसा महनीय स्वतंत्र सैद्धान्तिक अनमोल ग्रन्थ रचकर जैन वाङ्मयको समृद्ध बनाया है।

श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत **'तत्त्वार्थसार'** पर अपना मूलानुगामी हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। **'तत्त्वार्थसार'** स्वयं ही बहुत सरल रचना है। साहित्याचार्यजीने सुबोध हिन्दी रूपान्तर द्वारा उसे और अधिक सरल बना दिया है।

निस्सन्देह इसमें तत्त्वार्थ-सम्बन्धी सभी विषय सुगमतासे प्रतिपादित हैं। यह स्वाध्यायिओं के लिए ही उपयोगी नहीं है, अपितु जैन तत्त्व-जिज्ञासु जैनेतर विद्वानों और छात्रोंके लिए भी अतीव लाभप्रद है। कालेजों, विद्यालयो और पाठशालाओंके पाठ्यक्रममें इसका सहायक ग्रन्थके रूपमें अथवा स्वतंत्र रूपमें समावेश किया जा सकता है।

आदरणीय ब्र० राजारामजी भोपाल वाङ्मयके प्रचार और प्रसारके लिए सदा उद्यत रहते हैं। उनका वाङ्मयानुराग निश्चय ही स्तुत्य है। आपने इस ग्रन्थके प्रकाशनमे १०००) की सहायता भिजायी है। इतना ही नही, कितने ही महानुभावोको प्रेरित करके ग्रन्थमालाका संरक्षक-सदस्य भी बनाया है और स्वयं बने है। इस अवसरपर हम उनका आदर पूर्वक आभार प्रकट करते है।

श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीके भी आभारी हैं जिन्होंने प्राक्-कथन लिखनेकी कृपा की है। साहित्याचार्यजी को भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते। उनके द्वारा सम्पादित अनुवादित यह चौथा ग्रन्थ ग्रन्थमालासे प्रकाशमें आ रहा हैं। इससे पूर्व **'मेरी जीवन-गाथा'** (दोनों भाग) और **'समयसार-प्रवचन'** उनके द्वारा सम्पादित होकर ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुके हैं।

अपने समस्त संरक्षक-सदस्योंको भी धन्यवाद है जिनके आर्थिक एवं नैतिक सहयोग-बलपर ग्रन्थमाला निरन्तर प्रगतिके पथपर आरूढ है।

महावीर प्रेसके संचालक श्री बाबूलालजी फागुल्ल और उनका परिकर भी ग्रन्थको सुन्दर और आकर्षक छपाईके लिए धन्यवादार्ह है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
संयुक्त मंत्री

डा० दरबारीलाल कोठिया
मंत्री

चैत्रशुक्ला १३, वि० सं० २०२७
वी० नि० २४९६
१९ अप्रैल, १९७०

प्राक्कथन

दिगम्बर जैन परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। उनके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामीका स्थान है। ये दोनों आचार्य जिनशासनके महान प्रभावक आचार्य थे। इनमेंसे प्रथमने समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय जैसे ग्रन्थोंकी रचना करके द्रव्यानुयोगरूपी दीपकको प्रज्वलित किया तो दूसरेने तत्त्वार्थसूत्र-की रचना करके 'गागरमें सागर'की कहावतको चरितार्थ किया। जिनशासनमे छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थ प्रसिद्ध हैं। उक्त दोनो आचार्योंने इन्हीका विवेचन उक्त ग्रन्थोंमे किया है। यद्यपि छ द्रव्योंमें पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थोंमे सात तत्त्व गर्भित है फिर भी उनकी संख्यामे अन्तर होनेका जो विशिष्ट कारण है वही ज्ञातव्य है। आचार्य कुन्दकुन्दने पञ्चास्तिकायमे प्राय सभीका विवेचन किया है किन्तु समय-सारमे नौ पदार्थोंका ही विवेचन किया है और उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके अध्यायोमे सात तत्त्वोंका विवेचन किया है। उन्होंने पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धमे करके उन्हीके अन्तर्गत उनका विवेचन किया है। किन्तु इन दोनो विवेचनोमे जो अन्तर है वह उल्लेखनीय है। वह अन्तर सैद्धान्तिक नही है किन्तु एकमे सिद्धान्तके शरीरका विवे-चन है तो दूसरेमें उसकी आत्माका। यद्यपि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं और उनमेंसे पहला हेय है और दूसरा उपादेय है। फिर भी जब तक संसार है तब तक शरीरके बिना आत्मा रहता नही है इसलिए शरीरको हेय माननेवाले आत्मार्थियोको भी शरीरकी चिन्ता करना हो पडती है उसके बिना आत्माका काम नही चलता। वैसे ही सिद्धान्तकी आत्मा भी शरीरके बिना नहीं रहती, अत. उसको आत्माके अर्थियोंको वह शरीर भी अपेक्षणीय हो जाता है। भले ही अन्तमे वह छूटनेवाला हो। समयसारका विवेचन सिद्धान्तकी आत्माका विवेचन है और तत्त्वार्थसूत्रका विवेचन उसके कलेवरका विवेचन है। जीवकी गतिया, इन्द्रियाँ, काय, योग आदि जीव नही हैं, यह बोध हमे समयसारसे प्राप्त होता है किन्तु संसारी जीव इनके साथ ऐसा हिल-मिल गया है कि उनके बिना हम उसे जान नही सकते, अतः उनके द्वारा संसारी जीवकी विविध दशाओका ज्ञान हमें तत्त्वार्थसूत्रसे होता है। अत. मुमुक्षुके लिए दोनोंकी उपयोगिता निर्बाध है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दके व्याख्याकार और उन्हें विस्मृतिके गर्भसे निकालकर प्रकाशमे लानेवाले प्रबल किन्तु सन्तुलित आध्यात्मिक आचार्य अमृतचन्द्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रको श्लोकबद्ध करके उसे तत्त्वार्थसार नाम दिया और इस तरह उसे समादृत किया। समयसारके रहस्यज्ञ होनेपर भी उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रको उपेक्षणीय नही माना। यही उनकी रहस्यज्ञताका प्रबल प्रमाण है।

आचार्य अमृतचन्द्रका वैशिष्ट्य

जहां तक आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी व्याख्याका प्रश्न है, हमें तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्दने ही अमृतचन्द्रके रूपमें पुनर्जन्म धारण किया था। समयसारकी उनकी टीका सचमुचमें उसपर कलशारोहण है। अध्यात्मका बीज कुन्दकुन्दने बोया किन्तु उसे अंकुरित, पुष्पित और फलित करनेका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको ही है। जिस तरह वेदान्तदर्शनके सूत्रोंपर वाचस्पति मिश्रने भामती रची उसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारपर आत्मख्यातिकी रचना की। दोनोंकी शैली और भाषाकी प्राञ्जलतामें समानता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार

इन टीकाओके अतिरिक्त आचार्य अमृतचन्द्रकी दो रचनायें उपलब्ध है—एक पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय और दूसरा तत्त्वार्थसार। दोनों रचनाओंमें अध्यात्मी अमृतचन्द्रके वैशिष्ट्यकी स्पष्ट छाप है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्रावकाचारका ग्रन्थ है। रत्नकरण्डश्रावकाचारके बाद उसका नम्बर आता है। उसके नाममे तो वैशिष्ट्य है ही, आद्यन्त वर्णनमे भी अपना वैशिष्ट्य है। उसके आदिमे जो निश्चय और व्यवहार नयकी चर्चा है तथा अन्तमे जो रत्नत्रयको मोक्षका ही उपाय कहा है वह सब कथन श्रावकाचारोंको दृष्टिसे अछूता है। पुण्यास्रवको शुभोपयोगका अपराध बतलाना अध्यात्मी अमृतचन्द्रकी अमृतमयी वाणीका निस्यन्द है। उनके कुछ श्लोक तो समस्त जिनशासनको समझनेकी कुंजी है।

इसी तरह उनका तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थसूत्रके समग्र सारको लिए हुए होने पर भी अपना पृथक् वैशिष्ट्य रखता है जिसका स्पष्टीकरण अपनी प्रस्तावनामें पं० पन्नालालजीने किया है। उसके अन्तमें भी उन्होने निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गकी चर्चा की है। वह चर्चा सूक्ष्म ईक्षिकासे चिन्तनीय है।

कुछ विशिष्ट पद्य

आचार्य अमृतचन्द्रके इन दोनो ग्रन्थरत्नोंमे कुछ ऐसे सूत्र हैं जो वर्तमानमे प्रचलित सैद्धान्तिक विवादोको सुलझानेमें सहायक हो सकते हैं। नीचे उन्हे हम दे देना उचित समझते है—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

मुख्य और उपचार कथनके विवेचन द्वारा शिष्योंके दुर्निवार अज्ञानभावको नष्ट करनेवाले तथा व्यवहार-निश्चयके ज्ञाता आचार्य ही जगतमे धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते है ॥

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

यहाँ निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहते हैं। प्रायः सारा ही संसार भूतार्थके ज्ञानसे विमुख है। अथवा भूतार्थके ज्ञानसे विमुख जो अभिप्राय है वह सभी संसाररूप है ॥

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६ ।।

मुनीश्वर अज्ञानी जीवको ज्ञान करानेके लिये अभूतार्थ व्यवहारनयका उपदेश करते हैं। जो जीव केवल व्यवहारनयको ही जानता है, उसके लिये उपदेश नहीं है अर्थात् वह उपदेशका पात्र नहीं है ।।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७ ।।

जैसे सिंहको बिल्कुल न जाननेवाले पुरुषको 'यह बालक सिंह है' ऐसा कहनेपर वह बालकको ही सिंह मान लेता है वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है ।।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्य ।। ८ ।।

जो व्यवहार और निश्चयको यथार्थरूपसे जानकर मध्यस्थ रहता है—पक्षपात नही करता, वही शिष्य उपदेशका सम्पूर्ण फल पाता है ।।

× × × ×

असग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।। २११ ।।

एकदेश रत्नत्रयकी भावना करनेवाले पुरुषको जो कर्मबन्ध होता है वह बन्ध विपक्षकृत है रागके कारण होता है। अवश्य ही जो मोक्षका उपाय है वह बन्धनका उपाय नही है ।।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ।। २२० ।।

इस लोकमे रत्नत्रय निर्वाणका ही हेतु है, अन्यका नही। रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है।

ये सब पुरुषार्थसिद्धयुपायके श्लोक हैं।

पुण्य-पापके विषयमे तत्त्वार्थसारके दो श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेष. पुण्यपापयोः ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ।। १०३ ।।
ससारकारणत्वस्य द्वयोप्यविशेषतः ।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ।। १०४ ।।

हेतु और कार्यकी विशेषतासे पुण्य और पापमे भेद है। पुण्यका हेतु शुभ भाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है। किन्तु पुण्य और पाप दोनो ही समानरूपसे संसारके कारण हैं। अत. निश्चयनयसे पुण्य और पापमें कोई भेद नही है ।।

समय

तत्त्वार्थसारमें आचार्य अमृतचन्द्रने अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष उपयोग किया है। उसके वार्तिकोंको श्लोकरूपसे निबद्ध करके तत्त्वार्थसारका महत्त्व बढ़ाया है। तत्त्वार्थवार्तिककी ख्याति तत्त्वार्थभाष्यके रूपमें भी रही है। आचार्य वीरसेन स्वामीने, अपनी धवला टीकाके आरम्भमें (पु. १, पृ. १०३) 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये'। लिखकर तत्त्वार्थवार्तिकका उद्धरण दिया है। उत्तरकालीन आचार्य भास्करनन्दिने अपनी टीकामें विशेष विस्तारके लिये जिस भाष्यको देखनेकी प्रेरणा की है वह भाष्य भी अकलंकदेव-कृत तत्त्वार्थवार्तिक ही है। इसी तरह धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें भाष्यके नामसे जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे भी तत्त्वार्थवार्तिकके ही वाक्य हैं। आचार्य समन्तभद्ररचित महाभाष्य था, भाष्य नहीं। किन्तु उसकी स्थितिपर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अच्छा और सप्रमाण प्रकाश डाल गये है। अतः उसे विस्मृत कर देना ही ऐतिहासिक दृष्टिसे उचित प्रतीत होता है। अस्तु। अतः यह सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्र अकलंकदेवके पश्चात् हुए हैं। किन्तु उनके तत्त्वार्थसारपर आचार्य विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकरमे पुरुषार्थसिद्धयुपायके श्लोक उद्धृत होनेसे यह भी सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्र वि. सं० १०५५ से पूर्व हुए हैं क्योंकि धर्मरत्नाकरमें उसका रचनाकाल १०५५ दिया हुआ है। आचार्य अमितगति द्वितीयने सुभाषित रत्न-सन्दोहको वि० सं० १०५० मे, पंचसंग्रहको १०७३ और धर्मपरीक्षाको १०७० सं० मे पूरा किया था। इनके दादा गुरु नेमिषेणाचार्यके भी गुरु अमितगति प्रथमने योगसारकी रचना की थी। यह योगसार एक तरह कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत भाषानिबद्ध समयसार-का संस्कृत रूपान्तर है। इसमे भी पुण्य और पापमे भेदाभेद तत्त्वार्थसारका अनुकरण करते हुए कहा है। यथा—

सुखासुखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः।
नित्यसौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः॥
पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्यपापतः।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः॥

तत्त्वार्थसारके उक्त दोनों श्लोकोंके ही अभिप्रायको प्रकारान्तरसे दोहराया गया है— स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने भी तत्त्वानुशासनकी अपनी प्रस्तावनामे (पृ० ३४) इस बातको स्वीकार किया है कि 'अमितगति प्रथमके योगसारप्राभृतपर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओंका प्रभाव लक्षित होता है जिनके समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०–५० वर्ष पूर्वका जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमे अमृतचन्द्र सूरिका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण है।'

श्रीपालसुत डड्ढ रचित संस्कृत-पञ्चसंग्रहका भी एक पद्य धर्मरत्नाकर (पंचायती मन्दिर देहलीकी प्रतिके पृष्ठ ६७) मे उद्धृत है। वह पद्य है—

वचनैर्हेतुभी रूपैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
जुगुप्साभिश्च बीभत्सैर्नैव क्षायिकदृग् चलेत्॥

और इसी पंचसंग्रहके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक द्वितीय संग्रहमे 'उक्तञ्च' करके तत्त्वार्थसारके पञ्चम अधिकारका ११ वाँ श्लोक उद्धृत है—

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवोदिताः।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशति.॥

अत. अमृतचन्द्र धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेन, श्रीपालसुत डड्ढा तथा अमितगति प्रथमसे पहले हुए हैं, इतना सुनिश्चित है।

प्रकृत प्रकाशन

तत्त्वार्थसारको हमने सर्वप्रथम निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमे ही देखा था। उसके पश्चात् सन् १९१९ मे पं० वंशीधरजीके अनुवादके साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थासे उसका प्रकाशन हुआ। आधी शताब्दीके पश्चात् पं० पन्नालालजीके हिन्दी अनुवादके साथ श्रीगणेशप्रसादवर्णी ग्रन्थमालासे उसका प्रकाशन हो रहा है। प० पन्नालालजी एक सिद्धहस्त अनुवादक है। उन्होने जैन पुराणोके साथ अनेक संस्कृत-काव्योका भी अनुवाद किया है। वे सिद्धान्तके भी पंडित है अत उनके अनुवादका प्रामाणिक और स्पष्ट होना स्वाभाविक जैसा लगता है। किन्तु उन्होंने मूल ग्रन्थका संशोधन किन्ही हस्तलिखित प्रतियोसे किया हो, ऐसा कोई निर्देश उनके वक्तव्य-मे नही है। यद्यपि उपलब्ध मूल पाठ प्राय शुद्ध ही है फिर भी उसका मिलान किन्ही मूल प्रतिसे कर लिया जाता तो उत्तम होता। अनुवाद तो उनका उत्तम है ही फिर भी मुझे एक दो स्थल विचारणीय प्रतीत होते हैं।

अष्टम अध्यायके ४४ वें श्लोकमे प्रश्न किया गया है कि मुक्त जीवकी गति लोकसे आगे क्यो नही होती, तो उत्तर दिया गया—

धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परः।

धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे। अन्तिम चरणका अर्थ किया है—वास्तवमे धर्मास्तिकाय गतिका परम कारण है। यद्यपि पर शब्दका अर्थ परम भी होता है किन्तु यहाँ 'अन्य' या बाह्य अर्थ विवक्षित है। 'परम' शब्द अमृतचन्द्रजीको विवक्षित नही हो सकता।

इसी प्रकार इसी अध्यायके ५२ श्लोकमें मुक्तोके सुखको निरुपम बतलाया है—आगे लिखा है—

लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।
अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम्॥ ५३॥

प्राक्कथन

पूर्वार्धमें कहा है कि लिङ्ग या हेतुसे अनुमानमें और प्रसिद्धिसे उपमानमें प्रामाण्य आता है। उत्तरार्धका अनुवाद पं० जीने इस प्रकार किया है 'परन्तु मुक्तजीवोंका सुख अलिंग है—हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाण-का विषय न होकर अनुपम माना गया है।' शब्दशः अनुवाद ठीक है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं हुआ। अनुमान कहते हैं साधनसे साध्यके ज्ञानको। किन्तु मुक्तोंके सुखको बतलाने वाला कोई साधन या हेतु नहीं है। प्रसिद्ध अर्थके साधर्म्यसे साध्यका साधन करने वाला उपमान प्रमाण है। जैसे गौ प्रसिद्ध है। उसकी समानता देखकर यह जानना कि गौके समान गवय होता है यह उपमान प्रमाण है ऐसा प्रसिद्ध अर्थ कोई नहीं है जिसके साधर्म्यसे मुक्तोंके सुखको जाना जा सके अतः वह निरूपम है।' अस्तु

वर्णी ग्रन्थमालाके अभ्युदयमें उसके मंत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाकी निष्काम सेवा प्रमुख कारण है। हम श्रीकोठियाजी तथा पं० पन्नालालजीको इस कृति तथा उसके प्रकाशनके लिये धन्यवाद देते हैं। इस ग्रन्थके अनुवाद तथा प्रकाशनकी आवश्य-कता थी।

कैलाशचन्द्र
सिद्धान्तशास्त्री, सिद्धान्ताचार्य
प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय

वाराणसी

प्रस्तावना

द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ

द्रव्य शब्दका उल्लेख जैन और वैशेषिक दर्शनमे स्पष्ट रूपसे मिलता है। जैन दर्शनमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालको द्रव्य कहा है तथा वैशेषिक दर्शनमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, आकाश, दिशा, काल और मन इन नौको द्रव्य कहा है। वैशेषिकदर्शन सम्मत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, शरीरकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्यमे गर्भित हो जाते है और आत्माकी अपेक्षा जीवमे गर्भित रहते है। आकाश, काल और आत्मा (जीव) ये तीन द्रव्य दोनो दर्शनोमे स्वतन्त्र रूपसे माने गये हैं। वैशेषिक दर्शनाभिमत दिशा नामक द्रव्य आकाशका ही विशिष्ट रूप होनेसे उसमे गर्भित है। इस तरह वैशेषिक सम्मत समस्त द्रव्य जैनोके जीव, पुद्गल, आकाश और कालमे गर्भित हो जाते हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी कल्पना वैशेषिक दर्शनमे नही है। ये दोनो द्रव्य जैन दर्शनमे ही निरूपित हैं।

छह द्रव्योमे जीवद्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हं। अथवा पुद्गल द्रव्य, दृश्यमान होनेसे सबके अनुभवमे आ रहा है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिसमे पाया जाता है वह पुद्गलद्रव्य है अत जो भी वस्तु रूपादिसे सहित होनेके कारण दृश्यमान है वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीवके साथ अनादिसे लगे हुए कर्म और नोकर्म (शरीर) स्पष्ट रूपसे पुद्गलद्रव्य है। जीवद्रव्य अमूर्तिक होनेसे यद्यपि दिखाई नही देता तथापि स्वानुभवके द्वारा उसका बोध होता है। जो सुख-दु.खका अनुभव करता है और जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं वह जीवद्रव्य है। ज्ञान-दर्शन इसके लक्षण है। जीवित और मृत मनुष्यके शरीरकी चेष्टाको देखकर जीवका अनुमान अनायास हो जाता है।

पुद्गलमे हम भिन्न-भिन्न प्रकारके परिणमन देखते है। मनुष्य, बालकसे युवा और युवासे वृद्ध होता है। यह सब परिणमन कालद्रव्यकी सहायतासे होते हैं, इसलिये पुद्गलकी परिणतिसे कालद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमे आता है। हम देखते है कि जीव और पुद्गलमे गति होती है—वे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर आते जाते दिखाई देते हैं। इसका कारण क्या है ? जब इसके कारणकी ओर दृष्टि जाती है तब धर्मद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमे आने लगता है। जीव और पुद्गल चलते-चलते रुक जाते है—एक स्थानपर ठहर जाते हैं। इसका कारण क्या है ? जब इसपर विचार करते है तब अधर्मद्रव्यका अस्तित्व अनुभवमे आये बिना नही रहता। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये द्रव्य कहाँ रहते है ? बिना आधारके किसी भी पदार्थका अस्तित्व बुद्धिमे नही आता।

जब इस प्रकारका विचार उठता है तब आकाशका अस्तित्व नियमसे अनुभवमें आता है। इस तरह षड्द्रव्यमय लोक है। लोकके अन्दर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं, जहाँ जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य अपना अस्तित्व नही रखते हों। हाँ लोकके बाहर अनन्त प्रदेशो वाला अलोक है, जहाँ आकाशके सिवाय किसी अन्य द्रव्यका अस्तित्व नही है।

जीव द्रव्य अनन्त है, पुद्गल उनकी अपेक्षा बहुत अधिक अर्थात् अनन्तानन्त हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य एक-एक हे, आकाश भी एक है और काल असंख्यात है। लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य विद्यमान रहता है। वह स्वयंमे परिपूर्ण रहता है न कि किसो द्रव्यका अङ्ग, अवयव या प्रदेशरूप होकर रहता है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि चूँकि धर्म और अधर्म द्रव्यका कार्य आकाशमे होता है अतः धर्म और अधर्म द्रव्यकी कल्पना निरर्थक है, आकाशसे ही उनका कार्य निकल सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उनकी कल्पना निरर्थक नही है, सार्थक है। यदि आकाशके ऊपर ही गति और स्थितिका काम निर्भर हो तो लोक और अलोकका विभाग नही बन सकेगा, क्योकि आकाश तो आलोकाकाशमे भी विद्यमान है। उसके विद्यमान रहते जीव ओर पुद्गलकी गति तथा स्थिति अलोकाकाशमे भी होने लगेगी, तब लोक और अलोकका विभाग कहाँ हो सकेगा?

जीवादि छह द्रव्योमे अस्तिकाय और अनस्तिकायकी अपेक्षा भी भेद होता है। जिसमे अस्तित्वके रहते हुए बहुत प्रदेश पाये जाते है उन्हे अस्तिकाय कहते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहलाते है और कालद्रव्य एकप्रदेशी होनेसे अनस्तिकाय कहलाता है। पुद्गल द्रव्यका एक भेद परमाणु भी यद्यपि द्वितीयादिक प्रदेशोसे रहित है तथापि स्कन्धरूप बननेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण उसे भी अस्तिकाय ही कहते है।

द्रव्यका लक्षण शास्त्रोमे 'सद्द्रव्यम्', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा है अर्थात् जो सत्ता रूप है वह द्रव्य है। सत्ता, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होती है। अथवा जो गुण और पर्यायोसे सहित है वह द्रव्य है। पुद्गल द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य हमारी दृष्टिमे स्पष्ट ही आते है और पुद्गलके माध्यमसे जीवद्रव्यके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी अनुभवमे आते हैं। शेष अरूपी द्रव्योके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यको हम आगम प्रमाणसे जानते है।

जो द्रव्यके आश्रय रहता हुआ भी दूसरे गुणसे रहित हो उसे गुण कहते हैं।[१] वह सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेमत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण है तथा चेतनत्व, रूपादिमत्व आदि विशेष गुण हैं।

१ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।—त. सू.। २. तद्भाव. परिणामः।—त. सू.

द्रव्यकी परिणतिको पर्याय कहते हैं। इसके व्यञ्जनपर्याय तथा अर्थपर्यायकी अपेक्षा दो भेद हैं। प्रदेशवत्त्व गुणकी अपेक्षा किसी आकारको लिये हुए द्रव्यकी जो परिणति होती है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और अन्य गुणोंकी अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो परिणति होती है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनों पर्यायोके स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं। स्वनिमित्तकपर्याय स्वभावपर्याय है और परनिमित्तक पर्याय विभावपर्याय है। जीव और पुद्गलको छोडकर शेष चार द्रव्योका परिणमन स्वनिमित्तक होता है अतः उनमे सदा स्वभावपर्याय रहती है। जीव और पुद्गलकी जो पर्याय परनिमित्तक है वह विभावपर्याय कहलाती है और परका निमित्त दूर हो जानेपर जो पर्याय होती है वह स्वभावपर्याय कही जाती है। संसारका प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य, गुण और पर्यायसे तन्मयीभावको प्राप्त हो रहा है। क्षणभरके लिये भी द्रव्य, पर्यायसे विमुक्त और पर्याय, द्रव्यसे विमुक्त नही रह सकता। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती है तथापि सामान्यरूपसे कोई-न-कोई पर्याय प्रत्येक समय रहती है। इसी द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थको दर्शनशास्त्रमे सामान्यविशेषात्मक कहा जाता है।

द्रव्यके बाद जैन शास्त्रोंमे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका वर्णन आता है। तत्त्व शब्दका प्रयोग जैनदर्शनके सिवाय साख्यदर्शनमे भी हुआ है। साख्यदर्शनमे प्रकृति, महान् आदि पच्चीस तत्त्वोकी मान्यता है। वस्तुत. संसारमे जिस प्रकार जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य है उसी प्रकार जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं। जीवके साथ अनादिकालसे कर्म और नोकर्मरूप अजोवका सम्बन्ध हो रहा है और उसी सम्बन्धके कारण जीवकी अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीवका परस्पर संबन्ध होनेका जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। दोनोका परस्पर सम्बन्ध होने पर जो एकक्षेत्रावगाहरूप परिणमन होता है उसे बन्ध कहते हैं। आस्रवके रुक जानेको संवर कहते है। सत्तामे स्थित पूर्व कर्मोका एकदेश दूर होना निर्जरा है और सदाके लिये आत्मासे कर्म और नोकर्मका छूट जाना मोक्ष है।

'तस्य भावस्तत्त्वम्'—जीवादि वस्तुओका जो भाव है वह तत्त्व कहलाता है। 'तत्त्व' यह भावपरक संज्ञा है। मोक्षमार्गके प्रकरणमें ये सात तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते है। इनका यथार्थ निर्णय हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति संभव नही है।

कुन्दकुन्दस्वामीने इन्ही सात तत्त्वोंके साथ पुण्य और पापको मिलाकर नौ पदार्थोंका निरूपण किया है। जिस प्रकार घट पदका वाच्य कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थविशेष होता है उसी प्रकार जीवादि पदोके वाच्य चेतनालक्षण जीव, कर्मनोकर्मादिरूप अजीव, कर्मागमनरूप आस्रव, एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध, कर्मागमननिरोधरूप संवर, सत्तास्थित कर्मोंका एकदेश दूर होनेरूप निर्जरा, समस्त कर्म-नोकर्मोंका आत्मप्रदेशोसे पृथक् होनेरूप मोक्ष, शुभाभिप्रायसे निर्मित शुभ प्रवृत्तिरूप पुण्य और अशुभाभिप्रायसे निर्मित अशुभ प्रवृत्तिरूप पाप होते हैं। इसीलिये पदार्थ—शब्दार्थकी प्रधानदृष्टिसे ये पदार्थ कहलाते हैं।

शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्मकी अपेक्षा पदार्थ दो प्रकारका भी है अर्थात् संसारके अन्दर जितने पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी पद—शब्दके वाच्य—अर्थ अवश्य हैं। यहाँ नौ पदों—शब्दोंके द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वोंका ग्रहण किया गया है, इसलिये संसारके सब पदार्थ इन नौ ही पदार्थोंमें गर्भित हो जाते हैं।

तत्त्वनिरूपणकी विविध शैलियाँ

जिनागममे तत्त्वनिरूपण करनेकी एक प्राच्यशैली भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलिके द्वारा प्रचारित रही है, जिसका उन्होने षट्खण्डागममें सत्, संख्या आदि अनुयोगोके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका वर्णन कर प्रारम्भ किया है। इस शैलीमे जीवतत्त्वका वर्णन बीस[1] प्ररूपणाओंके द्वारा किया जाता है और उन्ही बीस प्ररूपणाओके अन्तर्गत अन्य अजीवादि तत्त्वोका वर्णन भी यथाप्रसङ्ग किया जाता है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत होनेके साथ दुरूह भी है। साधारण क्षयोपशमवाले जीवोका इसमे प्रवेश होना सरल बात नही है।

पीछे चलकर कुन्दकुन्दस्वामीने तत्त्वनिरूपणकी इस शैलीमे नया मोड देकर उसे सरल बनानेका उपक्रम किया है। उन्होने विचार किया कि आत्म-कल्याणके लिये प्रयोजनभूत पदार्थ तो नौ ही है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। अत इन्हीके यथार्थ ज्ञानकी ओर मनुष्यकी बुद्धिका प्रयास होना चाहिये। अनादिकालसे जीव तथा कर्म-नोकर्मरूप अजीव परस्पर एक दूसरेसे मिलकर संयुक्त अवस्थाको प्राप्त हो रहे है। इसलिये इस संयुक्त अवस्थामे 'जीव क्या है' और 'अजीव क्या है' यह समझना सर्वप्रथम प्रयोजनभूत है। तदनन्तर पुण्य-पापका एक बडा प्रलोभन है जिसके चक्रमे अच्छे-अच्छे पुरुष आ जाते है इसलिये उनके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे निवृत्त होनेका प्रयास प्रयोजनभूत है। तदनन्तर जीव और अजीवका परस्पर सम्बन्ध क्यो हो रहा है, इसका विचार करते हुए उन्होने आस्रवको प्रयोजनभूत बतलाया है। आस्रवका प्रतिपक्षी संवर है अत. उसका परिज्ञान भी अत्यन्त प्रयोजनभूत है। संवरके द्वारा नवीन अजीवका संयोग होना तो दूर हुआ, परन्तु जिसका संयोग पहलेसे चला आ रहा है उसे किस प्रकार दूर किया जावे? इसको चर्चा करते हुए निर्जराको आवश्यक बतलाया। उसके बाद जीव और अजीवकी बद्धदशाका विचार करते हुए बन्धको प्रयोजनभूत बतलाया। अन्तमे बन्धकी विरोधी दशा मोक्ष है इसलिये साध्यरूपमे उसका निरूपण करना प्रयोजनभूत है। इस तरह जीवादि नौ पदार्थोंको प्रयोजनभूत मानकर उनका समयप्राभृत ग्रन्थमे निरूपण किया। इन्ही नौ पदार्थोंका प्रवचनसार तथा पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थोमे प्रमुख या गौणरूपसे वर्णन किया है। कुन्दकुन्दस्वामीकी यह

---

१ गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा ॥—जी का

शैली जनसाधारणको सरल मालूम हुई जिससे उसका प्रचार बढा और उत्तरवर्ती आचार्योंने उसे खूब प्रचारित किया।

कुन्दकुन्दस्वामीके बाद भी उमास्वामी अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य हुए। उन्होंने कुन्द-कुन्दस्वामीकी शैलीको भी परिष्कृत कर उसे और भी सरल बनानेका प्रयास किया। उन्होंने विचार किया कि पुण्य और पाप ये दोनों पदार्थ आस्रवके ही विशेषरूप हैं अतः उनका पृथक्से वर्णन करना आवश्यक नही है। जीव और अजीव ये दोनो पदार्थ सबके अनुभवमें आ रहे है। इनका सम्बन्ध जिन कारणोसे होता है वे कारण आस्रव हैं। आस्रवके बाद जीव और अजीवकी बद्धदशाका वर्णन करनेके लिये उन्होने बन्धतत्त्वको स्वीकृत किया। आस्रव और बन्ध तत्त्वसे जीवकी संसारी दशा होती है पर यह जीव तो मोक्षकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ कर रहा है इसलिये आस्रवके विरोधी संवर तत्त्वका निरूपण किया। नये अजीवका सम्बन्ध रुक जानेपर भी पूर्वबद्ध अजीवका संबन्ध जब तक नही छूटता तब तक मोक्षकी प्राप्ति दुर्लभ है अतः संवरके बाद निर्जरातत्त्वका स्वीकृत किया और संवरपूर्वक निर्जरा होते-होते जब जीव और अजीवका सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है तब मोक्षकी प्राप्ति होती है अत. साध्यरूपमें यह प्रयोजनभूत है। इस तरह नौ पदार्थोके स्थानपर उन्होने सात तत्त्वोको स्थान दिया और कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा अंगीकृत क्रममें भी परिवर्तन कर दिया।

उमास्वामीकी यह शैली जनसाधारणको अत्यधिक रुचिकर हुई। उस समय भारत वर्षमे सूत्ररचनाका प्रवाह चल रहा था। न्याय, साहित्य और व्याकरणादि समस्त विषयोपर अनेक सूत्रग्रन्थोकी रचना हो रही थी और वह भी सस्कृतभाषामे। इसलिये उमास्वामीने भी संस्कृत भाषामे सूत्ररचना की। इसके पूर्वका जिनागम प्राकृतभाषामे निबद्ध मिलता है। परन्तु उमास्वामीने सस्कृतभाषामे सर्वप्रथम ग्रन्थ रचनाकर भाषाविषयक आग्रहको छोड दिया और जनकल्याणकी भावनासे जिस समय जो भाषा अधिक जनग्राह्य हो उसी भाषामे लिखना अच्छा समझा।

उमास्वामीकी यह रचना तत्त्वार्थसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोने अपने-अपने ग्रन्थोमे तत्त्वार्थसूत्रके नामसे ही इसका उल्लेख किया है। पीछे चलकर इसका 'मोक्षशास्त्र' नाम भी प्रचलित हो गया, क्योंकि इसमे मोक्षमार्गका निरूपण किया गया है। यह 'तत्त्वार्थसूत्र' इतना लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ कि इसके ऊपर अनेक आचार्योने वृत्ति, वार्तिक तथा भाष्यरूप टीकाएँ लिखी। जैसे समन्तभद्रस्वामीने गन्धहस्तिमहाभाष्य, पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि, अकलंकस्वामीने तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दस्वामीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे भी इसका बहुत आदर है तथा अनेक टीकाएँ इसपर लिखी गई है। वाचक उमास्वामीका तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके यहाँ इसकी प्राचीन टीका मानी जाती है। इसके बाद सिद्धसेनगणी,

हरिभद्र, देवगुप्त, मलयगिरि तथा चिरन्तनमुनि आदिने भी इसपर टीकाएँ लिखी हैं।

दिगम्बर जैनाचार्योंकी टीकाओंमें कुछके नाम इसप्रकार हैं—

१. स्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्य
२. पूज्यपादाचार्यकृत सर्वार्थसिद्धिवृत्ति
३. अकलंकभट्टकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार
४. विद्यानन्दस्वामीकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार
५. भास्करनन्दिकृत सुखबोधिनीटीका
६. विबुधसेनचन्द्राचार्यकृत तत्त्वार्थटीका
७. योगीन्द्रदेवकृत तत्त्वप्रकाशिकाटीका
८. योगदेवग्रथित तत्त्वार्थटोका
९. लक्ष्मीदेवविरचित तत्त्वार्थटीका
१०. अभयनन्दिसूरिकृत तात्पर्यतत्त्वार्थटीका
११. श्रुतसागरसूरिकृत तत्त्वार्थवृत्ति
१२ बालचन्द्रमुनि प्रणीत तत्त्वरत्नप्रदीपिका

इनमें प्रारम्भकी ११ टीकाएँ सस्कृत भाषामें हैं और बालचन्द्र मुनि प्रणीत बारहवी टीका कर्णाटकभाषामें है। इनके सिवाय अनेक विद्वानोंने हिन्दी तथा गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओंमें भी इस पर टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाओंमें जिनका उल्लेख किया गया है उनमें स्वामिसमन्तभद्रका गन्धहस्तिमहाभाष्य अब तक अप्राप्त है। फिर भी उत्तरवर्ती आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें उसका नामोल्लेख किया है। अत. उसका अस्तित्व जाना जाता है। इस विषयके कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

भास्करनन्दि आचार्यने चतुर्थाध्यायके ४२ वें सूत्रमें लिखा है—'**अपरः प्रपञ्चः सर्वस्य भाष्ये द्रष्टव्यः**'। पञ्चमाध्यायके द्वितीय सूत्रमें लिखा है '**अन्यस्तु विशेषो भाष्ये दृष्टव्यः।**'

धर्मभूषणाचार्य विरचित न्यायदीपिकामें

तद्भाष्यं—'**तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः,**। '**भाष्यं च—संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः इति।** '**तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—**

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

इस प्रकार महाभाष्यके वाक्योंको उद्धृत किया गया है।

९७८ ई० में श्रीचामुण्डरायके द्वारा कर्णाटकभाषामें विरचित त्रिषष्टिलक्षण पुराणमें भी समन्तभद्रस्वामीके भाष्यका इस प्रकार स्मरण किया गया है।

अभिमतमागिरे तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं वरेदु वचो—
विभवदिनिलेगेसेव समंतभद्रदेवर समानेवरुमोलरे '। ५ ॥

ई० सन् १२३० में गुणवर्म कविके द्वारा कर्णाटकभाषामे विरचित पुष्पदन्तपुराणमे उल्लेख मिलता है—

विस्तरभागे सूत्रगतिथिं मिमे पण्णिवगन्धहस्ति तों—
भत्तरुसासिरक्खे शिवकोटिय कोटिविपक्षुविद्वदु—
न्मत्तगजं मदं वरतु केय्येडेगोट्टुदेवल्ले पेल्वुदें
मत्ते समन्तभद्रमुनिराजवुदात्तजयप्रशस्तियं ॥ २२ ॥

इस उल्लेखसे गन्धहस्तिमहाभाष्यको श्लोकसंख्या छयानबे हजार प्रमाण है; यह जाना जाता है।

विक्रान्तकौरव नाटककी प्रशस्तिमे उसके कर्त्ता हस्तिमल्लने भी लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामीसमन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशक ॥ २ ॥

अष्टसहस्रीकी टिप्पणीमे लघुसमन्तभद्रने भी लिखा है—

इह हि खलु पुरा स्वोयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलि-दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यै-रसूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबन्धन्तः स्याद्वादविद्यागुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्या ।

यह तो रही टीकाओंकी बात, परन्तु उत्तरवर्ती समस्त आचार्योंने अपने ग्रन्थोमे जहाँ तत्त्वनिरूपणका प्रसङ्ग आया है वहाँ श्री उमास्वामीकी ही शैलीको अपनाया है। जैसे हरिवंशपुराणमे उसके कर्त्ता जिनसेनस्वामीने तत्त्वनिरूपण करते हुए इसी शैलीको स्वीकृत किया है। कितने ही स्थलों पर तो ऐसा जान पड़ता है मानो सूत्रोंका इन्होंने पद्यानुवाद ही किया हो।

उमास्वामीने इस नवीन शैलीको अपनाते हुए प्राचीन शैलीको सर्वथा विस्मृत नही किया है अपितु **'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च'** इस सूत्रके द्वारा उसका उल्लेख भी किया है और पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिटीकामे विस्तारके साथ इस सूत्रकी टीका कर सत्संख्यादि अनुयोगोपर अच्छा प्रकाश डाला है। सर्वार्थसिद्धिटीका, वीरसेनस्वामी द्वारा रचित धवलाटीकासे बहुत प्राचीन है। यदि इसको अच्छी तरह समझ लिया जावे तो धवला टीकामे प्रवेश करना सरल हो सकता है। परन्तु खेद है कि दुरूह समझ कर इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिगत टीकाको पाठ्यक्रमसे बहिर्भूत कर दिया है जिससे आजका छात्र उस प्राचीन शैलीसे अपरिचित हो रह जाता है। पीछे चलकर इसी प्राचीन शैलीको बल देनेके लिये नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा कर्म-

काण्डकी रचनाएँ कीं और उनसे उस प्राचीन शैलीको पुनः प्रचारित होनेमें बल प्राप्त हुआ।

श्रीअमृतचन्द्रसूरिका 'तत्त्वार्थसार' ग्रन्थ भी उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीमें लिखा हुआ स्वतन्त्र ग्रन्थ है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्रसूरिने इसे गद्यके स्थानपर पद्यका ही रूप दिया है परन्तु कितने ही स्थानोंपर इन्होंने नवीन तत्त्वोंका भी संकलन किया है। नवीन तत्त्वोका संकलन करनेके लिये इन्होने अकलंकस्वामीके तत्त्वार्थराजवार्तिकका सर्वाधिक आश्रय लिया है। आस्रव तथा मोक्षके प्रकरणमे तो उन्होने प्रकरणोपात्त वार्तिकोको पद्यानुवादके द्वारा अपने ग्रंथका अंग ही बना लिया है। उमास्वामीने गुणस्थान और मार्गणाओके जिस प्रकरणको दुरूह समझकर छोड दिया था उसे भी अमृतचन्द्रसूरिने यथाकथंचित् स्वीकृत कर विकसित किया है।

उमास्वामी

अर्हद्बली आचार्यके समय कालदोषसे मुनियोमे अपने-अपने संघका पक्षपात चल पडा। उसे देखकर अर्हद्बली आचार्यने मुनियोके नदिसघ, सेनसघ, सिंहसघ और देवसंघ इस प्रकार चार सघ स्थापित कर दिये। उनमे भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर ६८३ वर्ष व्यतीत होनेके बाद दश वर्ष तक गुप्तिगुप्त आचार्य संघाधिपति रहे, उनके बाद चार वर्ष तक माघनदी, तत्पश्चात् नौ वर्ष तक जिनचन्द्र, तदुपरान्त बावन वर्ष तक श्रीकुन्दकुन्द स्वामी और पश्चात् चालीस वर्ष आठ दिन तक उमास्वामी महाराज नन्दिसघके पीठाधिपति रहे।

श्रवणबेलगोल के ६५वें शिलालेखमे लिखा है—

> **तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।**
> **श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥५॥**
> **अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः।**
> **तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥६॥**

उन जिनचन्द्रस्वामीके जगत् प्रसिद्ध अन्वयमे 'पद्मनन्दी प्रथम' इस नामको धारण करनेवाले श्रीकुन्दकुन्द नामके मुनिराज हुए। जिन्हें सत्संयमके प्रभावसे चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। उन्ही कुन्दकुन्दस्वामीके अन्वयमे उमास्वाति मुनिराज हुए जो गृद्ध्रपिच्छाचार्य नामसे प्रसिद्ध थे। उस समय गृद्ध्रपिच्छाचार्यके समान समस्त पदार्थोंको जाननेवाला कोई दूसरा विद्वान नही था।

श्रवणबेलगोलाके निम्नांकित २५८ वें शिलालेखमे भी लिखा है—

> **तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।**
> **बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥१०॥**
> **अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।**
> **सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥११॥**

स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्ध्रपिच्छान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम् ॥१२॥

उनके वंशरूपी प्रसिद्ध खानसे अनेक मुनिरूप रत्नोंकी माला प्रकट हुई। उसी मुनिरूपी रत्नमालाके बीचमे मणिके समान श्रीकुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्ध ओजस्वी आचार्य हुए। उन्ही कुन्दकुन्दस्वामीके पवित्र वंशमे समस्त पदार्थोंके ज्ञाता श्रीउमास्वाति मुनि हुए, जिन्होने जिनागमको सूत्ररूपमे निबद्ध किया। यह उमास्वाति महाराज प्राणियों की रक्षामें अत्यन्त सावधान थे, इसलिये उन्होने (मयूरपिच्छके गिर जानेपर) गृद्ध्रपिच्छोको धारण किया था। उसी समयसे विद्वान् लोग उन्हे गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

मैसूर प्रान्तके अन्तर्गत नागरप्रान्तके छयालीसवें शिलालेखमे लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

मै तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता, गुणोके मंदिर एवं श्रुतकेवलीके तुल्य श्रीउमास्वाति मुनिराजको नमस्कार करता हूँ।

यही उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नामसे भी विख्यात है। धवलाटीकामे श्रीवीरसेनाचार्यने कालद्रव्यका वर्णन करते समय 'तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्तेवि' इन शब्दोंके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। सन् ९४१ मे निर्मित कर्णाटक आदिपुराणमे महाकवि पम्पने उमास्वामीको 'आर्यनुतगृद्ध्रपिच्छाचार्य' लिखा है। इसी तरह सन् ९७८ मे रचित कर्णाटक त्रिषष्टिलक्षण पुराणमे उसके कर्ता चामुण्डरायने भी उमास्वामीको गृध्रपिच्छाचार्य लिखा है।[1]

११५० ईशवीयके लगभग रचित कर्णाटक पार्श्वपुराणमे उसके रचयिता पार्श्वपण्डितने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका उमास्वाति नामसे स्तवन किया है।[2]

सन् १३२० के लगभग विरचित कर्णाटकभाषाके समयपरीक्षा ग्रंथमे उसके कर्ता ब्रह्मदेव कविने उमास्वामीका गृद्ध्रपिच्छाचार्यके नामसे उल्लेख किया है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्ध्रपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

---

१. वसुमतिगे नेगले तत्त्वार्थसूत्रमं वरेद गृध्रपिच्छाचार्यर ।
जसदि दिगन्तमं मु द्रिसि जिनशासनद महिमेयं प्रकटिसिदर ॥३॥

२. अनुपमतत्त्वार्थं पुण्यनिबन्धनं मप्पुदे तु पनदोल्ने-
ट्टने वेलसियंते बेलसिके निशमुमास्वातिपादयति पादयुगम् ॥

३. जगदोलगुल्ल सुतत्वम नगणित मननन्तभेदभिन्नस्थितियम् ।
सुगमदि नरि वन्निरे ये ल्द गुणाढ्यं गृध्रपिच्छमुनिकेवलने ।

इस प्रसिद्ध श्लोकमें भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्ध्रपिच्छसे उपलक्षित उमास्वामी नामसे प्रकट किया गया है।

इन उपरितन उल्लेखोसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी, उमास्वाति और गृद्ध्रपिच्छाचार्य ये तीन नाम हमारे सामने आते हैं। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा जिनागमके पारगामी विद्वान थे। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक तथा विद्यानंद आदि मुनियोने बडे श्रद्धापूर्ण शब्दोंमे इनका उल्लेख किया है। पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमे जो उनका वर्णन किया है वह अत्यन्त मार्मिक है—

'मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्'

जो मुनिसभाके मध्यमे विराजमान थे, जो बिना वचन बोले अपने शरीरसे ही मानो मूर्तिधारी मोक्षमार्गका निरूपण कर रहे थे, युक्ति और आगममे कुशल थे, परहितका निरूपण करना ही जिनका एक कार्य था तथा उत्तमोत्तम आर्यपुरुष जिनकी सेवा करते थे ऐसे दिगम्बराचार्य श्रीउमास्वामी महाराज थे।

विद्यानन्दस्वामीने आपके साथ '**भगवद्भिः**' इस प्रकार आदरसूचक शब्दोंका प्रयोग किया है। तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायोमे जीवादि सात तत्त्वोका विशद वर्णन है अर्थात् पहलेके चार अध्यायोमे जीवका, पाँचवें अध्यायमे अजीवका, छठवें और सातवे अध्यायमे आस्रवका, आठवें अध्यायमे बन्धका, नौवें अध्यायमे सवर और निर्जराका तथा दशवें अध्यायमे मोक्षतत्त्वका वर्णन है। तत्त्वार्थसूत्रकी महिमामें प्रसिद्ध है—

दशाध्याये परिछिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

दशाध्याय प्रमाण तत्त्वार्थसूत्रका पाठ और अनुगम करनेपर मुनियोने एक उपवासका फल बतलाया है अर्थात् एक उपवाससे जितनी निर्जरा होती है उतनी निर्जरा अर्थ समझते हुए तत्त्वार्थसूत्रके एक बार पाठ करनेसे होती है।

समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द जैसे बहुश्रुत आचार्योंने इसपर वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखनेमे अपना गौरव समझा, इसीसे तत्त्वार्थसूत्रकी महिमा आकी जा सकती है।

कुछ टीकाओंका सक्षिप्त परिचय

समन्तभद्रस्वामीका गन्धहस्तिमहाभाष्य उपलब्ध नही है अत. उसके विषयमें कुछ नही कहा जा सकता है। परन्तु पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति, अकलंकस्वामीका राजवार्तिक, विद्यानन्दस्वामीका श्लोकवार्तिक, भास्करनन्दिकी सुखबोधाख्य टीका और श्रुतसागरकी तत्त्वार्थवृत्ति टीकाएँ देखनेका अवसर प्राप्त हुआ है। पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति पातञ्जलभाष्यकी पद्धतिपर सरल भाषामे लिखित उच्चकोटिकी वृत्ति

है। उसके सत् संख्यादि सूत्रमें सदादि अनुयोगोंके द्वारा जो तत्त्वका निरूपण हुआ है वह पूज्यपादस्वामीके आगमविषयक ज्ञानकी महत्ता बतलानेके लिए पर्याप्त है। इन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके लक्षण तथा द्रव्यस्वरूपके वर्णनमें दर्शनशास्त्रकी पद्धतिको भी अपनाया है। परन्तु उसे इतनी सुगम रीतिसे लिखा है कि पाठकका मन उसे अनायास ग्रहण कर लेता है। पूज्यपाद वैयाकरण तो थे ही, इसलिये जहाँ तहाँ व्याकरणका भी निर्देश मिलता है। सर्वार्थसिद्धिकी कितनी ही पंक्तियोंको अकलंकस्वामीने राजवार्तिकमें वार्तिकका रूप देकर अपने ग्रंथका अङ्ग बना लिया है।

अकलंकस्वामीके समय दर्शनशास्त्रका प्रचार अधिक हो गया था, इसलिये तत्त्वार्थराजवार्तिकमें हम बीच-बीचमें अन्य दर्शनोंकी चर्चाको भी अधिक मात्रामें पाते हैं और उसके कारण तत्त्वार्थवार्तिकके कितने ही स्थल दुरूह हो गये हैं परन्तु वार्तिकोंकी वृत्ति लिखते समय उन्होंने जिस सरल भाषाका प्रयोग किया है उससे ग्रंथके प्रति पाठकका आकर्षण बना रहता है। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित तत्त्वार्थ राजवार्तिकके संपादनमें उसके संपादक डॉ महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने भारी श्रम किया है। उसकी परम्परागत अशुद्धियोंको दूरकर तथा दार्शनिक स्थलोंको स्पष्टकर इसे सर्वसाधारणके लिए सुगम बना दिया है।

विद्यानन्दस्वामीके समय तक दर्शनशास्त्रका इतना अधिक प्रचार हो गया था कि उसने धर्म, व्याकरण तथा साहित्यमें भी प्रवेश पा लिया था। विद्यानन्दस्वामी दर्शनशास्त्रके महान् विद्वान् थे। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर जो भाष्य लिखा उसमें दार्शनिक तत्त्वोंका पूर्ण प्रवेश हो गया। अर्थात् दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनकी ही प्रचुरता हो गई और धर्मशास्त्रका अंश गौण पड़ गया। दार्शनिक भागकी बहुलतासे यह भाष्य दुरूह हो गया। और विशिष्ट बुद्धिवाले विद्वानोंके ही गम्य रह गया। प्रसन्नताकी बात है कि न्यायशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यने इस महान् ग्रन्थकी हिन्दी टीका लिखकर उसे सर्वसुलभ बना दिया है। हिन्दी टीका सहित श्लोक वार्तिकका प्रकाशन कुन्थुसागर ग्रन्थमाला सोलापुरसे चालू है।

भास्करनन्दिकी सुखबोध टीका अपने नामके अनुरूप है। इसमें सरलतासे तत्त्वार्थके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। पं० शान्तिराजजी न्यायतीर्थके द्वारा संपादित होकर मैसूरसे प्रकाशित हुई है। विद्वान् संपादकने भूमिकामें अच्छा विमर्श किया है।

श्रुतसागरकी तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त सरल और बहुत प्रमेयोंसे भरी हुई है। श्रीमान् डॉ० महेन्द्रकुमारजीके द्वारा संपादित होकर भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अन्य टीकाएँ मेरे देखनेमें नहीं आईं। उनका उल्लेख भास्करनन्दिकी सुखबोध टीका सहित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनाके आधार पर किया गया है।

संस्कृत टीकाकारोंका परिचय

समन्तभद्र—

समन्तभद्र, क्षत्रिय राजपुत्र थे। उनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बादमें आप

'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नामसे लोकमे प्रसिद्ध हुए। इनके गुरुका क्या नाम था और इनकी क्या गुरुपरम्परा थी, यह ज्ञात नही हो सका। वादी, वाग्मी और कवि होनेके साथ आद्य स्तुतिकार होनेका श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्रके तलद्रष्टा और विलक्षण प्रतिभा संपन्न थे। एक परिचय-पद्यमे तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होनेके साथ आज्ञासिद्ध तथा सिद्धसारस्वत भी बतलाया है।[1] आपकी सिंह गर्जनासे सभी वादिजन कापते थे। आपने अनेक देशोमे विहार किया और वादियोंको पराजित कर उन्हे सन्मार्गका प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ बडी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ तथा गंभीर अर्थकी उद्भाविका है। उनके नाम इस प्रकार है—

१ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन, ३ आप्तमीमांसा, ४ रत्नकरण्डश्रावकाचार और ५ स्तुतिविद्या। इनका समय विक्रमकी २–३ शताब्दी है।

पूज्यपाद

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० २५४ और ६४ के उल्लेखानुसार आपके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध है।[२;३] यह आचार्य अपने समयके बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यही कारण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंने बड़े सम्मानके साथ आपका संस्मरण किया है। जिनसेनाचार्यने अपने आदिपुराणमे इनका स्मरण वैयाकरणके रूपमे किया है। वास्तवमे आप अद्वितीय वैयाकरण थे। आपके जैनेन्द्रव्याकरणको नाममालाकार धनंजय कविने अपश्चिमरत्न कहा है। आप विक्रम संवत् ५२६ से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। अबतक आपके निम्नाङ्कित ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं—

१ जैनेन्द्रव्याकरण, २ सर्वार्थसिद्धि, ३ समाधिमन्त्र, ४ इष्टोपदेश और ५ भक्तिसंग्रह।

अकलङ्क भट्ट

यह लघुहव्व नामक राजाके पुत्र थे और भट्ट इनकी उपाधि थी। यह विक्रमकी सातवी शताब्दीके प्रतिभासंपन्न आचार्य थे। अकलकदेव जैनन्यायके व्यवस्थापक और दर्शनशास्त्रके असाधारण पण्डित थे। आपकी दार्शनिक कृतियोका अभ्यास करनेसे आपके तलस्पर्शी पांडित्यका पद-पदपर अनुभव होता है। उनमे स्वमतसस्थापनके साथ

---

१. आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुधा सिद्धसारस्वतोऽहम्।

२ प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजिते पदयुगे वनदेवताभि.॥

३ यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि.।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥

परमतका अकाटय युक्तियों द्वारा निरसन किया गया है। ग्रन्थोंकी शैली अत्यन्त गूढ, संक्षिप्त, अर्थबहुल और सूत्रात्मक है। इसीसे उत्तरवर्ती हरिभद्रादि आचार्यों द्वारा अकलंक-न्यायका संमानपूर्वक उल्लेख किया गया है। इतना ही नही, जिनदासगणी महत्तर जैसे विद्वानोंने उनके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थका अवलोकन करनेकी प्रेरणा भी की है। इन सब कारणोसे अकलकभट्टकी महत्ताका स्पष्ट आभास मिल जाता है। वर्तमानमे इनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध है—

१. लघीयस्त्रय, २. न्यायविनिश्चय, ३. सिद्धिविनिश्चय, ४. अष्टशती (देवागम टोका), ५. प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञ भाष्य सहित, ६ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७. स्वरूपसंबोधन और ८. अकलंक स्तोत्र।

अकलंकदेवका समय विक्रमकी सातवी शताब्दी है क्योंकि विक्रम संवत् ७०० में उनका बौद्धोके साथ महान् विवाद हुआ था, जैसा कि निम्न पद्यसे स्पष्ट है—

विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

नन्दिसूत्रकी चूर्णिमे प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् श्रीजिनदासगणी महत्तरने सिद्धिविनिश्चय' नामके ग्रंथका बडे गौरवके साथ उल्लेख किया है। जिसका रचनाकाल शकसंवत् ५९८ अर्थात् वि० संवत् ७३३ है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

शकराजः पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यपनचूर्णिः समाप्ता।

चूर्णिका यह समय मुनि जिनविजयने ताडपत्रीय प्रतियोके आधारसे ठीक बतलाया है।

विद्यानन्द

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके कर्ता आचार्य विद्यानन्दस्वामी है। ये महान् श्रुतधर आचार्य थे। दर्शनशास्त्रके पारंगत विद्वान् थे, नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक आदि दर्शनोका प्रगाढ अध्ययन आपने किया था। आपके द्वारा निर्मित १. अष्टसहस्री, २ विद्यानन्द महोदय, ३ आप्तपरीक्षा, ४ प्रमाणपरीक्षा, ५ पत्रपरीक्षा, ६ सत्यशासनपरीक्षा और ७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रंथ उपलब्ध है। आपका समय शक संवत् ६९७ से शक संवत् ७६२ विक्रम संवत् ८२२ से ८९७ तक माना जाता है।

बालचन्द्रमुनि

तत्त्वरत्नप्रदीपिकाके रचयिता श्रीबालचन्द्र मुनि है। यह नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य थे। इन्होंने १२२६ विक्रम संवत्के लगभग तत्त्वरत्नप्रदीपिका टीकाकी रचना की है। यह टीका कर्णाटकभाषामे है। बालचन्द्र मुनि कन्नडकवि है तथा अनेक प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थोके टीकाकार है।

भास्करनन्दि

सुखबोधवृत्तिके रचयिता श्री भास्करनन्दि है। इन्होंने ग्रंथके अन्तमे जो प्रशस्ति दी

है उससे यह सिद्ध होता है कि एक सर्वसाधु नामके पूज्य गुरु थे जिन्होंने अन्तमें संन्यास धारण कर शुभ गति प्राप्त की थी उनके संन्यासकी विशेषता बतलाते हुए कहा है कि संन्यासके लिये जबसे उन्होंने पर्यङ्कासन बाँधा तबसे न थूँका, न सोया, न किसीसे बात की, न किसीसे कहा कि तुम आओ, तुम जाओ, न शरीरको खुजाया, न रात्रिको गमन किया, न रात्रिके समय किसीको जागने दिया, न स्वय जगाया और न झुके। उन्हीं सर्वसाधु गुरुके जिनचन्द्र नामके शिष्य थे। जो निर्मल सम्यग्दृष्टि थे, सिद्धान्तके पारगामी थे तथा चारित्ररूपी अलंकारसे अलकृत थे। उन्ही जिनचन्द्रके शिष्य भास्करनन्दि थे। उन्होंने यह सुखबोध टीका लिखी है[१]। इस तरह भास्करनन्दिके गुरुका उल्लेख तो प्राप्त है परन्तु वे किस समय हुए इसका उल्लेख प्राप्त नही हुआ। तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामे उसके सपादक श्री पं० शान्तिराजजीने आशंसा प्रकट की है कि श्रवणबेलगोलामे स्थित ६९ वें शिलालेखमें द्वितीय माघनन्दिके बाद एक जिनचन्द्राचार्यका उल्लेख किया गया है संभवत. भास्करनन्दि उन्ही जिनचन्द्रके शिष्य है। इतिहासज्ञ विद्वान् माघनन्दी द्वितीयका काल ११५० ई० आँकते है अत जिनचन्द्रका समय ११७५ ई० होगा और उनके शिष्य भास्करनन्दिका समय १३०० ई० होगा। परन्तु यह एक संभावनामात्र है।

जैनसंदेशके शोधाक १९ मे प्रकाशित श्री पं० मिलापचन्द्रजी कटारया केकड़ीके 'भास्करनन्दि और श्रीपालसुत्त डड्ढा' शार्षक लेखसे यह भी प्रतीत हुआ है कि भास्करनन्दिने अपनी सुखबोधटीकामे श्रीपालसुत्त डड्ढाके संस्कृत पद्यमय पञ्चसंग्रहके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। यथा

> द्विःकपोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा।
> नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिषु ॥ १९८ ॥ पं० सं०

इस पद्यको भास्करनन्दिने तत्त्वार्थसूत्रके तृतीयाध्यायके तृतीय सूत्रकी टीकामे उद्धृत किया है। इसीप्रकार चतुर्थाध्यायके सूत्र २ की टीकामे निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किये है—

---

१ नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीतु जातु
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घट्येद्वा न दत्ते।
नावष्टम्नाति किञ्चिद्गुणविधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोग·
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधु. स पूज्य ॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभव सिद्धान्तपारंगत
शिष्य. श्रीजिनचन्द्र नामकलितश्चारित्रभूषान्वित।
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित्।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्ति. स्फुटम् ॥
—प्रशस्ति

लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरञ्जिता ।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्यच्छविः षोढोभयी तु सा ।। १८४ ।।
षड्लेश्याङ्का मतेऽन्येषां ज्योतिष्का भौमभावना. ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्यानिलाङ्गिनः ।। १९० ।।

इस श्लोकको भास्करनन्दिने 'तदुक्तं सिद्धान्तालापे' इन शब्दोके साथ उद्धृत किया है। इसी प्रकार डड्ढाने भी 'इति सिद्धान्तालापे' ऐसा लिखा है।

लेश्याश्चतुर्षु षट् षट् च तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु ।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षटसु निर्लेश्यमन्तिमम् ।। १९५ ।।
आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसंख्येयाब्दजीविषु ।
लेश्याः क्षायिकसद्दृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ।। १९६ ।।
षण् नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्यास्तेष्वसंख्यातजीविषु ।
एकाक्षविकलासंज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रयं मतम् ।। १९७ ।।

इसी तरह चतुर्थाध्यायके २२वें सूत्रमें भी निम्नलिखित दो पद्य उद्धृत किये है—

सौधर्मेशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः ।
कल्पेषु षट्स्वतः पद्मा पद्माशुक्ले ततो द्वयोः ।।
आनतादिषु शुक्लातस्त्रयोदशसु मध्यया ।
चतुर्दशसु सोत्कृष्टानुदिशानुत्तरेषु च ।।

इन अवतरणोंसे यह सुसिद्ध है कि भास्करनन्दि, डड्ढासे पीछे हुए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित पञ्चसंग्रहमें प्राकृत पंच संग्रह सुमति कीर्तिकृत संस्कृतटीकाके साथ छपा है। यह संस्कृतटीका सुमतिकीर्तिने वि० सं० १६२० में बनाई है। पञ्चसंग्रहके संपादक श्रीमान् पं० हीरालालजी शास्त्रीने उसकी प्रस्तावनामें लिखा है कि संदृष्टियोंके मिलानसे प्रतीत होता है कि श्री डड्ढापर सुमतिकीर्तिकी संस्कृतटीकाका प्रभाव मालूम होता है। इससे सिद्ध होता है कि भास्करनन्दिका समय डड्ढासे परवर्ती है। परन्तु यह निर्णायक अभिमत नहीं है क्योंकि इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृत टीकाकार डड्ढासे प्रभावित हो। भास्करनन्दिका बनाया हुआ एक 'ध्यानस्तव' नामका ग्रंथ भी है जो १०० श्लोक प्रमाण है तथा जैनसिद्धान्तभास्कर भाग १२ किरण २ में प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रशस्तिके अन्तिम तीन श्लोक तत्त्वार्थसूत्रकी प्रशस्तिसे प्रायः मिलते-जुलते हैं।

श्रुतसागर

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ता श्रीश्रुतसागरजी मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दी था। इन्होंने अपनेको ब्रह्म श्रुतसागर या देशयति श्रुतसागर लिखा है। विद्यानन्दी देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दीके शिष्य एवं

उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दीके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक हुए। लक्ष्मीचन्द्र गुर्जर देशी सिंहासनके भट्टारक थे। श्रुतसागर सभवत पट्टपर अधिष्ठित नही हुए। यह बहुश्रुत विद्वान् थे। आपके बनाये हुए ग्रन्थोंमें कुछके नाम इस प्रकार है—

१. यशस्तिलकचन्द्रिका २ तत्त्वार्थवृत्ति ३. औदार्यचिन्तामणि ४. तत्त्वत्रयप्रकाशिका ५. जिनसहस्रनामटीका ६. महाभिषेकटीका ७ षट्प्राभृतटीका। इनके सिवाय व्रतकथाकोष आदि अनेक ग्रन्थ हैं। आप १६ वी शताब्दीके विद्वान् हैं।[1]

अमृतचन्द्र सूरि

तत्त्वार्थसारके कर्ता श्री अमृतचन्द्र सूरि है। यह संस्कृत भाषाके महान् विद्वान् तथा अध्यात्मतत्त्वके अनुपम ज्ञाता थे। कुन्दकुन्द स्वामीके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय ग्रन्थोंपर पाण्डित्यपूर्ण भाषामे टीकाएँ लिखकर इन्होने कुन्दकुन्दस्वामीके हार्दको प्रकट किया है तथा उनकी विस्मृत प्रभुताको पुनरुज्जीवित किया है। अमृतचन्द्रस्वामी जहाँ कुन्दकुन्दस्वामीके निश्चयनयप्रधान ग्रन्थोकी व्याख्या करते है वहाँ वे उन व्याख्या ग्रंथोके प्रारम्भमे ही अनेकान्तका स्मरणकर पाठकोको सचेत करते है कि अनेकान्त ही जिनागमका जीव-प्राण है—उसके विना यह निर्जीव-निष्प्राण हो जाता है। समयसारके प्रारम्भमे ही आपने लिखा है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥

अर्थात् जो अनन्त धर्मोसे युक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपका अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

प्रवचनसारके प्रारम्भमे लिखा है—

हेलोल्लुप्तं महामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः॥

अर्थात जिसने महामोहरूप अन्धकारके समूहको अनायास ही लुप्त कर दिया है तथा जो जगत्के तत्त्वको प्रकाशित कर रहा है ऐसा यह अनेकान्तरूप तेज जयवत प्रवर्त रहा है।

पञ्चास्तिकायके प्रारम्भमें कहा है—

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धति॥

अर्थात् जो दुर्निवार नयसमूहके विरोधको नष्ट करनेके लिये औषधस्वरूप है ऐसी, स्यात्कारसे जीवित जिनेन्द्रभगवान्‌की सिद्धान्तपद्धति सदा जयवंत रहे।

---

१. देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३७५—

यही नहीं, समयसारकी व्याख्याके अन्तमें स्याद्वादाधिकार, प्रवचनसारके अन्तमें स्याद्वादाधीन ४७ शक्तियोंका निरूपण तथा पञ्चास्तिकायके अन्तमें ग्रन्थ-तात्पर्यके रूपमें निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभासोंका वर्णन कर स्याद्वादकी शैलीसे उनका समन्वय भी किया है।

कुन्दकुन्दस्वामीके ग्रन्थोंकी टीका लिखनेके बाद पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थकी रचना करते हुए प्रारम्भमें ही उन्होंने अनेकान्तका स्मरण किया है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात् जो परमागमका जीव—प्राण है, जिसने जन्मान्ध मनुष्योंके हस्तिविधानको निषिद्ध कर दिया है और जो समस्त नयविलासोंके विरोधको नष्ट करनेवाला है उस अनेकान्तको मैं नमस्कार करता हूँ।

जन्मान्ध मनुष्योंके हस्तिविधानके निषेधका वर्णन करते हुए उन्होंने 'षडन्धा' इस नामसे प्रचलित निम्नाङ्कित प्राचीन कालकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट किया है—

पुरा षडन्धाः संभूय गजं ज्ञातुं समुत्सुकाः।
प्राप्य हास्तिपकं प्रोचुः सखे दर्शय नो गजम्॥ १॥
कीदृशोऽसौ गजो जन्तुर्महत् तत्र कुतूहलम्।
पुरतो वर्तते सोऽयं स्वैरं पश्यन्तु सोऽब्रवीत्॥ २॥
शुण्डां धृत्वा गजस्याथ प्रथमो मुदितोऽवदत्।
गजरूपमहो ज्ञातं भुजङ्गेन समो गजः॥ ३॥
परामृश्य द्वितीयस्तु विशालमुदरं ततः।
अवदद्भित्तिरूपो हि गजो भवति निश्चितम्॥ ४॥
तृतीयो गजपादं तु धृत्वा गर्वयुतोऽवदत्।
गजः सर्पो न भित्तिर्वा स्तम्भरूपो गजो ह्ययम्॥ ५॥
कर्णं तु व्याततं धृत्वा चतुर्थोऽन्धोऽवदत्तदा।
व्यजनेन समो हस्ती शङ्का नैवात्र काचन॥ ६॥
रदं तीक्ष्णं करे धृत्वा पञ्चमो विस्मितोऽवदत्।
न स्तम्भो व्यजनं नैव शूलरूपो गजो ध्रुवम्॥ ७॥
लाङ्गूलं करिणो धृत्वा षष्ठस्तेषु ततोऽब्रवीत्।
रज्जुरूपो गजो मूढाः सत्यं जानीथ नो कथम्॥ ८॥

अर्थात् पहले कभी हाथीको जाननेके लिये उत्सुक हुए छह अन्धे मिलकर महावतके पास गये और बोले, मित्र, हम लोगोंको हाथी दिखलाओ। वह हाथी नामका जन्तु कैसा होता है, इस विषयमें हमको बड़ा कुतूहल है। महावतने कहा कि वह हाथी सामने विद्यमान है। आप लोग अपनी इच्छानुसार देख लें।

तदनन्तर पहला अन्धा हाथीकी सूँड़ पकडकर प्रसन्न होता हुआ बोला—अहो, मैंने हाथी जान लिया, वह सांपके समान होता है। तदनन्तर दूसरे अन्धेने विशाल पेटका स्पर्श कर कहा कि हाथी निश्चित ही दीवालरूप होता है। तीसरे अन्धेने हाथीका पैर पकडकर बड़े गर्वसे कहा कि हाथी न तो सर्पके समान है और न दीवालके सदृश है, यह तो खम्भाके समान है। चौथे अन्धेने फैले हुए कानको पकडकर कहा कि हाथी पङ्खाके समान होता है, इसमे कोई शङ्का नही करना चाहिए। पाँचवें अन्धेने तीक्ष्ण दाँत हाथमें लेकर आश्चर्यसे चकित हो कहा कि हाथी न खम्भाके समान है और न पङ्खाके समान है किन्तु शूलके समान है। पश्चात् छठवां अन्धा हाथीकी पूँछ पकडकर बोला कि अरे मूर्खो! हाथी सचमुच ही रस्सीके समान होता है तुम लोग इस सचाईको क्यो नही जानते हो।

जिसप्रकार उक्त अंधे पुरुष, हाथीके एक-एक अंगको लेकर उसे पूरा हाथी मानते है उसी प्रकार एकान्तवादी मनुष्य वस्तुके एक-एक धर्मको लेकर उसे ही पूरी वस्तु मानते है। परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये अनेकान्त, जन्मान्ध मनुष्योंके हस्ति-विधानके समान एकान्तवादको निषिद्ध करता है।

उमास्वामी महाराजने **'प्रमाणनयैरधिगमः'** सूत्रको रचनाकर यह बताया है कि जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान प्रमाण और नयोके द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो कि पदार्थमे रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्मोंको एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो कि पदार्थ-मे रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्मोंमेसे एकको प्रमुख और दूसरेको गौण कर विवक्षानुसार ग्रहण करता है। नयोके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इसतरह दो भेद है। अथवा अध्यात्म-भाषामे निश्चय और व्यवहार इस प्रकार दो भेद है। निश्चयनय वस्तुके स्वाश्रित—स्व-निमित्तक शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है। जैसे जीव ज्ञानदर्शनादिगुणोसे तन्मय एक अखण्ड द्रव्य है। और व्यवहारनय वस्तुके पराश्रित—परके निमित्तसे होनेवाले भावको ग्रहण करता है, जैसे जीव क्रोधादिमान् है। यद्यपि निश्चयनय वस्तुके शुद्धस्वरूपका प्रख्यापक होनेसे भूतार्थ—सत्यार्थ है और व्यवहारनय अशुद्धस्वरूपका प्रख्यापक होनेसे अभूतार्थ—असत्यार्थ है तथापि वस्तुकी निरूपणामे दोनो नयोको आवश्यकता होती है क्योकि नयो-का उपयोग प्रतिपाद्य—शिष्यकी योग्यताके अनुसार होता है। इसलिये अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्धयुपायमे कहा है—

व्यवहारनिश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ ८॥

जो शिष्य व्यवहार और निश्चयको यथार्थरूपसे जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् दोनोमेसे किसी एकके पक्षको नही खीचता है किन्तु तत्त्वको निरूपणाके लिये दोनोको आवश्यक समझता है वही शिष्य देशनाका पूर्ण फल प्राप्त करता है।

प्रतिपाद्यकी योग्यताके अनुसार नयोका प्रयोग होता है, इसका निर्देश कुन्दकुन्द-स्वामीने समयसारकी निम्न गाथामे बड़े सुन्दर ढंगसे किया है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावा ॥ १२ ॥

परमभाव—उत्कृष्ट शुद्धस्वभावका अवलोकन करनेवाले पुरुषोंके द्वारा शुद्धस्वरूपका वर्णन करनेवाला शुद्धनय—निश्चयनय ज्ञातव्य है और जो अपरमभावमें स्थित है वे व्यवहारनयसे उपदेश देनेके योग्य हैं ।

इस गाथाकी आत्मख्याति टीकामें श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने सुवर्णका दृष्टन्त देकर वस्तु-स्वरूपको सरलतासे समझाया हैं । इस तरह हम अमृतचन्द्रस्वामीको तत्त्वनिरूपणकी दिशामे अत्यन्त जागरूक पाते हैं ।

आपके द्वारा रचित निम्नांकित पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१ समयप्राभृतटीका, २ प्रवचनसारटीका, ३ पञ्चास्तिकायटीका, ४ पुरुषार्थसिद्धयुपाय और ५ तत्त्वार्थसार ।

प्रारम्भके तीन ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामीके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय इन तीन ग्रन्थोंकी टीकारूप है । तीनों ग्रन्थोंकी टीकाओंमें आपने जिस उच्चकोटिकी गद्यका प्रयोग किया है वह साधारण विद्वानोके बुद्धिगम्य नही है । समयसारकी टीकामे तो गद्यसे अतिरिक्त आपने कलश-काव्योंकी भी रचना की है जो कि बहुत ही भावपूर्ण और प्रेरणाप्रद है ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय २२६ श्लोकोंका प्रसादगुणोपेत एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है । अहिंसा-धर्मका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्धयुपायमे उपलब्ध है वैसा हम अन्यत्र नही पाते है ।

तत्त्वार्थसार, तत्त्वार्थसूत्रके आधारपर पल्लवित और विकसित रचना है । तत्त्वार्थ-सूत्रका यथार्थ नाम तत्त्वार्थ ही है क्योकि तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि नामोसे तत्त्वार्थ नामकी ही पुष्टि होती है । सूत्रमय होनेसे इसे तत्त्वार्थ सूत्र कहा जाने लगा । प्रकृत ग्रन्थके 'तत्त्वार्थसार' इस नामसे भी यही नाम ध्वनित होता है अर्थात् अमृतचन्द्रस्वामीका यह ग्रन्थ तत्त्वार्थका सार ही है । इसमे तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिपादित समस्त तत्त्वोंका सार तो संगृहीत है ही उसके अतिरिक्त पंचसंग्रह, सर्वार्थ-सिद्धि, एवं राजवार्तिकमे प्रतिपादित कितनी ही विशिष्ट बातोका भी संकलन है ।

अमृतचन्द्रसूरिका आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामे दो स्थानोपर ठक्कुर नामसे उल्लेख किया है । यथा

१ एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे । पृ० १६०

२ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम् । पृ० ५८८

यह ठक्कुर या ठाकुर पद जागीरदारों और ओहदेदारोके लिये प्रयुक्त होता था । इससे इनकी गृहस्थावस्थाकी संपन्नता या प्रभुता सूचित होती है ।

अमृतचन्द्रसूरि किसके शिष्य थे और किस गुरुपरम्पराके थे, आदिका उल्लेख आपने अपने किसी भी ग्रंथमें नहीं किया है। ये बड़े निर्लिप्त व्यक्ति थे। जहाँ हम कितने ही ग्रंथकारोंको बड़ी-बड़ी प्रशस्तियों एवं पुष्पिकावाक्योंके रूपमें आत्मप्रशंसाका उद्घोषक पाते हैं वहाँ अमृतचन्द्रसूरि यह भाव प्रकट करते हैं कि नाना प्रकारके वर्णोंसे पद बन गये, पदोंसे वाक्य बन गये और वाक्योंसे यह ग्रन्थ बन गया, इसमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[1] इन सब कारणोंसे इनके सही समयका निर्णय अनिश्चित रूपमें चला आ रहा है परन्तु पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४-५ में एक महत्त्व-पूर्ण सूचना दी है कि धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेनने अपने धर्मरत्नाकरमें अमृतचन्द्रसूरिके पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे ५९ पद्य उद्धृत किये हैं। धर्मरत्नाकर एक संग्रहग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रंथोंके पद्योंका संग्रह कर मालाकी तरह रचा है और इसकी सूचना उन्होंने ग्रंथके अन्तिम अवसरमें निम्न प्रकार दी है—

'इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि
भूतोऽवद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः' ॥

भावसेनके शिष्य जयसेन लाडवागडसंघके हैं तथा इन्होंने धर्मरत्नाकरकी रचना १०५५ वि० सं०में पूर्ण की थी, ऐसा उसकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है—

बाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके ॥

अर्थात् सकलीकरहाटक नगरमें १०५५ शुभ संवत्में यह ग्रन्थ पूर्णताको प्राप्त हुआ।

इस उल्लेखसे तथा जैनसंदेशके शोधांक ५ में प्रकाशित श्री पं० कैलाशचन्द्रजीके 'कुछ आचार्योंके कालक्रमपर विचार' शीर्षक लेखसे सिद्ध होता है कि श्रीअमृतचन्द्रसूरि

---

१. वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥ **पु० सि०**
वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ **त० सा०**
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ **स० सा०, पंचास्तिकाय**
व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्यातु गुम्फे गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधिकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥ **प्र० सा०**

१०५५ वि० सं०से पूर्ववर्ती है। साथ ही तत्त्वानुशासनकी प्रस्तावना पृष्ठ ३३ पर श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अमृतचन्द्रसूरिका समय दशवी शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित करते हुए पट्टावलीमें उनके पट्टारोहणका समय जो वि० सं० ९६२ दिया है उसे ठीक बतलाया है।

अब विचारणीय बात यह है कि तत्त्वार्थसारमें कितने ही श्लोक अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहके छाया-प्रतिच्छायारूप पाये जाते हैं। जैसे

यवनालिमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभाः ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधा कृतिः ॥१४३॥ पं सं०
यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः ॥ ५० ॥ त० सा०:
जलूकाशुक्तिशम्बूकगण्डूपदकपर्दिकाः
जठरकृमिशङ्खाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मताः ॥ १४७ ॥ पं० सं०
शम्बूकः शङ्खशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥५३॥ त० सा०
कुन्थुः पिपीलिका गुंभी यूका मत्कुणवृश्चिकाः ।
मकोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रिया देहिनो मताः ॥१४७॥ पं० सं०
कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥५४॥ त० सा०
पतङ्गाः मशका दंशा मक्षिका कीटगर्मुतः ।
प्रत्तिका चञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षाः शरीरिणः ॥१४९॥ पं० सं०
मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥५५॥ त० सा०

इसी प्रकार पृथिवीके भेद बतलानेवाले श्लोक भी छाया-प्रतिछायारूप हैं। तत्त्वार्थसारकारके ये श्लोक क्या अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहसे अनुप्राणित हैं या पञ्चसंग्रहके श्लोक तत्त्वार्थसारसे अनुप्राणित हैं। पंचसंग्रहके कर्ता अमितगति विक्रमकी ११ वी शताब्दीके तृतीय चरणके विद्वान् हैं। तुलनात्मक अध्ययन करनेपर मालूम होता है कि तत्त्वार्थसारके कर्ता अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कितने ही श्लोकोंसे अमितगति-श्रावकाचारके श्लोक अनुप्राणित है।[१] अतः अमितगति अमृतचन्द्रसे परवर्ती है, पूर्ववर्ती नहीं। तत्त्वार्थसारके उल्लिखित श्लोकोंका सादृश्य अमितगतिके पंचसंग्रहगत श्लोकोंसे जो मिलता है उसका कारण यह है कि ये सभी श्लोक प्राकृतपञ्चसंग्रहके संस्कृत छाया-रूप है। अमितगतिके पंचसंग्रहका मूल आधार भी वही प्राकृतपंचसंग्रह है। इन सब

१. देखो, जैनसंदेश शोधाक ५ में पं० कैलाशचन्द्रजीका लेख

गाथाओं और तत्त्वार्थसारके श्लोकोंका अवतरण आगेके स्तम्भ 'तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय और उसका मूलाधार' में करेंगे। उससे सिद्ध हो जायगा कि तत्त्वार्थसारके ये श्लोक प्राकृतपंचसंग्रहसे अनुप्राणित हैं न कि अमितगतिके संस्कृतपंचसंग्रहसे। अमितगतिने अपना पञ्चसंग्रह वि० सं० १०७३ मे पूर्ण किया है और अमृतचन्द्रका समय विक्रम की १० वी शताब्दीका उत्तरार्ध है, ऐसा निश्चित समझना चाहिये।

तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय और उसका आधार

(१) **प्रथमाधिकारमें** तत्त्वार्थसार ग्रंथको अमृतचन्द्रस्वामीने मोक्षका प्रकाश करनेवाला एक प्रमुख दीपक [1] बतलाया है, क्योंकि इसमें युक्ति और आगमसे सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने उनके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वोका विशद वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमे जीवतत्त्व उपादेय है और अजीवतत्त्व हेय है। अजीवका जीवके साथ सम्बन्ध क्यो होता है, इसका कारण बतलानेके लिये आस्रवका और अजीव का सम्बन्ध होनेसे जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिये बन्धका कथन है। हेय—अजीवतत्त्वका संबन्ध जीवसे कैसे छूटे, यह बतलानेके लिये संवर और निर्जरा का कथन है और हेय—अजीवका सम्बन्ध छूटनेपर जीवकी क्या दशा होती है, यह बतलानेके लिये मोक्षतत्त्वका वर्णन है। इन्ही सात तत्त्वोको जाननेके लिये उन्होने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप तथा प्रमाण और नयोंका विस्तारसे वर्णन किया है। प्रमाणके वर्णनमे मतिज्ञान आदि पाच सम्यग्ज्ञानोका विस्तारके साथ निरूपण किया है। प्रथम अधिकारके अन्तमे निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोका भी उल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके द्वारा न्यस्त-व्यवहारको प्राप्त एवं स्याद्वादमे स्थित सात तत्त्वोके समूह को निर्देशादि उपायोंके द्वारा सबसे पहले जानना चाहिये।

वास्तवमे जीवादि तत्त्व ही क्यों, संसारके किसी भी पदार्थको जाननेका क्रम निर्देश आदिसे ही शुरू होता है। उदाहरणके लिए किसीके सामने कोई ऐसा पदार्थ रक्खा जावे जिसे उसने आज तक देखा नही था। उस पदार्थको देखते ही देखनेवालेके मुखसे सर्वप्रथम यही निकलता है कि यह क्या है? इस प्रश्नका उत्तर निर्देश देता है अर्थात् उस पदार्थका नाम और स्वरूप बतलाता है। देखनेवालेके मुखसे दूसरा प्रश्न यह निकलता है कि यह पदार्थ किसका है? अर्थात् इसका स्वामी कौन है? इसका उत्तर स्वामित्व देता है।

---

१. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणा हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥ त. सा.

देखनेवालेके मुखसे तीसरा प्रश्न यह निकलता है कि पदार्थ कैसे बनता है ? इसका उत्तर साधन देता है। चौथा प्रश्न निकलता है कि यह पदार्थ कहाँ मिलता है ? इसका उत्तर अधिकरण देता है। पाँचवाँ प्रश्न होता है कि कब तक मिलता है ? इसका उत्तर स्थिति देती है। और छठवाँ प्रश्न होता है कि यह एक ही प्रकारका है या इसके अन्य प्रकार भी है ? इसका उत्तर विधान देता है।

इसी तरह कपडाका एक व्यापारी कपडा खरीदनेके लिये बाजार जाता है। कपडे की दूकानपर पहुँचते ही उसका सबसे पहला प्रश्न होता है—कपड़ा है क्या ? (सत्)। दुकानमें नमूनाके लिये रखे हुए दो-चार थानोंको देखकर वह दूसरा प्रश्न करता है—कितना है ? (संख्या)। दुकानदार कहता है—बहुत है। व्यापारी पूछता है—कहाँ रक्खा है—कपड़ाका क्षेत्र क्या है ? दुकानदार कपड़ेकी गोदाममें जाकर माल दिखाता है (क्षेत्र)। व्यापारी कपडेसे भरी हुई गोदाम देखकर पूछता है- भाई यह इतना माल कहाँसे आता है और कहाँ खपता है ? दुकानदार कपड़े आनेके तथा खपनेके स्थान बतलाता है (स्पर्शन)। व्यापारी पूछता है कि माल कब तक मिलता रहेगा-दुकान कब तक खुली रहती है ? दुकानदार दुकानका समय बतलाता है (काल)। व्यापारी पूछता है यदि अभी माल न उठा सकूँ तो कितने दिन बाद मिलेगा ? दुकानदार दूसरे माहका कोटा मिलनेका समय बताता है (अन्तर)। व्यापारी पूछता है—कौन माल किस क्लास का है ? दुकानदार कपडेको क्लास-विशेषता बतलाता है ? (भाव)। व्यापारी इच्छानुसार माल निकलवाकर अलग रखवाता जाता है, पीछे दुकानदार माल संभालकर परचे पर नूद करता है—कौन कपड़ा कितना कम और अधिक है (अल्पबहुत्व)।

इस तरह संसारके प्रत्येक पदार्थ सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वके द्वारा जाने जाते है। वस्तुतः पदार्थोंके जाननेके उपाय यही हैं। मोक्षमार्गके प्रकरणमें सद् आदि अनुयोगोका प्ररूपण मोक्षमार्गके अनुरूप होता है।

तत्त्वार्थसारका सामान्य आधार उमास्वामी महराजका तत्त्वार्थसूत्र है और विशिष्ट आधार जहाँ जो होगा उसकी चर्चा इसी स्तम्भमें की जाती रहेगी।

(२) **द्वितीयाधिकारमें** जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वोका वर्णन जीवका लक्षण बतानेके लिये उपयोगका वर्णन किया है। उपयोगके साकार और अनाकारके भेदसे दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका वर्णन किया है। पश्चात् जीवके संसारी और मुक्तके भेदसे दो भेद कर संसारी जीवोंका वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओंके द्वारा किया है। जान पड़ता है यह सब विषय अमृतचन्द्रसूरिने प्राकृतपञ्चसंग्रहसे लिया है क्योकि पंचसंग्रहकी गाथाओके साथ तत्त्वार्थसारके श्लोकोंका अत्यन्त भावसादृश्य है। जैसे—

जवणालियामसूरीचंदद्ध अइमुत्तफुल्लतुल्लाइं ।
इंदियसंठाणाइं फासं पुण णेगसंठाणं ।। ६६ ।।

पंचसंग्रह

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा: स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः ।। ५० ।।

त० सा० अधिकार २

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं ।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ ।। ६८ ।।

पंचसंग्रह

रूप पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पष्टं शब्दं शृणोति तु ।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम् ।। ४९ ।।

त० सा० अधिकार २

खुल्ला वराडसंखा अंक्खुणहअरिट्ठगा य गंडोला ।
कुक्खिकिमिसिप्पिआई णेया बेइंदिया जीवा ।। ७० ।।

पंचसंग्रह

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ।। ५३ ।।

त० सा० अधिकार २

कुंथुपिपीलयमकुणविच्छियजूविंदगोवगोम्हीया ।
उत्तिगमट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा ।। ७१ ।।

पंचसंग्रह

कुन्थु पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ।। ५४ ।।

त० सा० अधिकार २

दंसमसगो य मक्खिय गोमच्छिय भमरकीडमक्कडया ।
सलहपयंगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ।। ७२ ।।

पंचसंग्रह

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ।। ५५ ।।

त० सा० अधिकार २

इन्ही संसारी जीवोका वर्णन करते हुए आपने विग्रहगतिके इषु, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका इन चार भेदोंका वर्णन किया है । नौ तथा चौरासी लाख योनियों, उनके स्वामियो तथा कुलकोटियोका विशद वर्णन किया है । जीवोंकी आयु

तथा शरीरावगाहनाका वर्णन कर कौन जीव किस नरक तक जाते है और वहाँसे आकर क्या-क्या होते है यह सब बताया है । इन सबका आधार राजवार्तिकको निम्न पंक्तियाँ मालूम होती है—

'अथोत्पाद: क्व तेषामिति ? अत्रोच्यते प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते, प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपा., तिसृषु पक्षिणः, चतसृषूरगाः, पञ्चसु सिंहाः, षट्सु स्त्रिय., सप्तसु मत्स्य-मनुष्याः । न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते ।'

राजवार्तिक पृष्ठ १६८ ज्ञानपीठ

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपा ।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः ।। १४६ ।।
तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः ।। १४७ ।।

त० सा० अधिकार २

इसी जीवतत्त्वका वर्णन करते हुए उसका निवास बतलानेके लिये अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका भी वर्णन किया है । इस तरह तत्त्वार्थसारके द्वितीयाधिकारमे तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायका संपूर्ण विषय सकलित किया गया है तथा उससे सबद्ध अन्य विषय भी सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिकसे लिये गये है ।

(३) **तृतीयाधिकारमें** अजीवतत्त्वका वर्णन करते हुए प्रसंगोपात्त छह द्रव्योंका स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य, पुद्गलोके भेद, अणु और स्कन्धका स्वरूप, पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें तथा स्कन्ध बननेकी प्रक्रियाका वर्णन किया गया है। इसमे तत्त्वार्थसूत्रके पञ्चमाध्यायको आधार बनाया गया है । विशद विवेचनाके लिये पूज्यपादस्वामीकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका भी आधार लिया गया है ।

(४) **चतुर्थाधिकारमें** आस्रवतत्त्वका वर्णन है । इसके लिये तत्त्वार्थसूत्रके षष्ठ और सप्तम अध्यायको आधार बनाया गया है । ज्ञानावरणादि कर्मोके जो आस्रव सूत्रकारने बतलाये है उनका व्याख्यान करनेके बाद अकलंकस्वामीने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें सूत्रोपात्त कारणोके सिवाय अन्य जिन कारणोका विस्तारसे उल्लेख किया है उन कारणो को तत्त्वार्थसारकारने भी अंगीकृत किया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। शुभास्रवके वर्णनमें व्रतोंका भी वर्णन आ गया है ।

(५) **पञ्चमाधिकारमें** बन्धतत्त्वका विस्तारसे वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके अष्टमाध्यायको बनाया गया है । इसमे कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोके नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदिका अच्छा दिग्दर्शन हुआ है ।

(६) **षष्ठाधिकारमें** संवरतत्त्वका वर्णन है । इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रके नवमाध्याय

सम्बन्धी प्रारम्भिक भागको आधार बनाया गया है। उसमे संवरका स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चरित्रका वर्णन किया गया है।

(७) सप्तमाधिकारमें निर्जराका वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके नवमाध्यायके उत्तरार्धको बनाया गया है। इसमे निर्जराके भेद तथा निर्जराके कारणभूत तपोका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

(८) अष्टमाधिकारमें मोक्षका वर्णन है तथा उसका आधार तत्त्वार्थसूत्रके दशमाध्यायको बनाया गया है। इसमे मोक्षका लक्षण तथा उसकी प्राप्तिके क्रमका बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इस प्रकरणमे अमृतचन्द्रस्वामीने राजवार्तिकके कितने ही वार्तिकोंको श्लोकोंका रूप देकर अपने ग्रंथका अंग बना लिया है। जैसे—

आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्

ता. रा वा. पृष्ठ ६४१

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ॥६॥

त. सा. अधि. ८

यही नही, राजवार्तिककारने 'उक्त च' कहकर

दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके इस पद्यको उद्धृत किया है। उसे तत्त्वार्थसारमे ग्रन्थका ही अंग बना लिया है या फिर प्रेसकापी बनाते समय तत्त्वार्थसारमे 'उक्तं च' पाठ लिखनेसे रह गया है।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्, न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ॥ ४ ॥

त रा वा. पृष्ठ ६४२

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥८॥

त० सा० अधि० ८

पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानत. पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥५॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

जानत पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥९॥

त० सा० अधि ८

अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

त० सा० अधि० ८

स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्, न, अनास्रवत्वात् ॥७॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

पातोऽपि स्थानवत्वान्न तस्य नास्रवतत्वतः।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥ ११ ॥

त० सा० अधि० ८

गौरवाभावाच्च ॥ ८ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्जते।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥१२॥

त० सा० अधि० ८

परस्परोपरोध इति चेत्, न, अवगाहनशक्तियोगात् ॥ ९ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तित. ॥ १३ ॥
नानादीपप्रकाशेषु मूर्त्तिमत्स्वपि दृश्यते।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः ॥ १४ ॥

त० सा० अधि० ८

अनाकारत्वादभाव इति चेत्, न, अतीतानन्तरशरीरानुविधायित्वात् ॥ १२ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १५ ॥

त० सा० अधि० ८

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत्, न, कारणाभावात् ॥ १३ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ७४३

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ॥ १६ ॥

त० सा० अधि० ८

नामकर्मसंबन्धात संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ॥ १४ ॥

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

शरावचन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगतः ।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा ।। १७ ।।
संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः ।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे ।। १८ ।।

त० सा० अधि० ८

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ।। १८ ।।

त० रा० वा० पृ० ६४४

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात् ।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः ।। १९ ।।

त० सा० अधि० ८

तत्त्वार्थसूत्र दशमाध्यायके अन्तिम सूत्रमे राजवार्तिककारने 'उक्तं च' कहकर जो ३३ श्लोक उद्धृत किये है उनमे प्रारम्भके १७ श्लोक—**सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसयुक्तस्यात्मनो भृशम्**—तत्त्वार्थमारके अङ्ग बन गये है। ये सब श्लोक कुछ हेरफेरके साथ वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमे भी पाये जाते है। जान पडता है अकलंक स्वामीने 'उक्तं च' कहकर उन्हे अपने ग्रन्थमे उद्धृत किया है और उनमेसे १७ श्लोकोको तत्त्वार्थमारकारने अपने ग्रन्थका अङ्ग बना लिया है। १७ ही नही, बीचमे '**ज्ञानावरणहानान्ते केवलज्ञानशालिन । दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शन** ।।' इत्यादि ६ श्लोक अन्य लिखकर उसके बाद '**तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने**'—आदि १२ श्लोक और भी तत्त्वार्थमारके अङ्ग बन गये हैं। ये ३३ श्लोक जयधवलामे भी पाये जाते हैं, अत किससे किसने लिये, इसका निर्णय अपेक्षित है।

(९) **नवमाधिकारमे** ग्रन्थका उपसहार करते हुए कहा गया है कि प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदिके द्वारा सात तत्त्वोको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेना चाहिये। निश्चय और व्यवहारके भेदमे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उनमे निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। अपने शुद्ध आत्माका जो श्रद्धा, ज्ञान तथा उपेक्षण—रागद्वेषसे रहित प्रवर्तन है वह निश्चयमोक्षमार्ग है और पर आत्माओका जो श्रद्धान आदि है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग अन्तमे चलकर निश्चयमोक्षमार्गमे विलीन हो जाता है और उससे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, अत मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण निश्चयमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधक होनेके कारण परम्परासे मोक्षमार्ग है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप निश्चय और व्यवहार दोनो मोक्षमार्गोको अपनाता है। जो केवल निश्चय मोक्षमार्गको ही सारभूत जानकर व्यवहारमोक्षमार्गको छोड देता है उसे अमृतचन्द्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे बाल—अज्ञानी की संज्ञा दी है। यथा—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥

जो निश्चयको न जानता हुआ निश्चयसे उसीका आश्रय लेता है बाह्यक्रियाओके करनेमें आलसी हुआ वह अज्ञानी प्रवृत्तिरूप चारित्रको नष्ट कर देता है। जो एकांतसे निश्चय और व्यवहारको पकडकर बैठे है वे निश्चयाभासी तथा व्यवहाराभासी है इसी तरह जो निश्चय और व्यवहारके ठीक-ठीक स्वरूपको न समझकर दोनोको अंगीकृत करते हैं वे भी उभयाभासी हैं। ये तीनो प्रकारके जीव मोक्षमार्गसे बहिर्भूत है।

इस तरह यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ अल्पकाय होनेपर भी मोक्षमार्गका सांगोपाग वर्णन करनेवाला होनेसे मोक्षशास्त्र ही है। इसोलिये ग्रन्थान्तमे पुष्पिकावाक्यके द्वारा कहा गया है—'**इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृति तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम् ।**' इस तरह अमृतचन्द्रसूरिकी कृति तत्त्वार्थसार नामका मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ।

तत्त्वार्थसारका यह संकरण

तत्त्वार्थसारका यह सकरण प्रथमगुच्छकमे प्रकाशित तत्त्वार्थसारके मूलमात्रसंग्रहसे तैयार किया गया है। यद्यपि उस संग्रहमे परम्परासे कुछ पाठ अशुद्ध हो गये है तथापि उन्हे राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे ठीक कर लिया गया है।

श्री ब्र० राजारामजी भोपालकी खास प्रेरणासे इसके संपादन और अनुवाद करनेमे प्रवृत्ति हुई। कार्य पूर्ण होनेपर मैने पाण्डुलिपि उक्त ब्रह्मचारीजीके पास भेज दी। उन्होने प्रारम्भमे कुछ पाठभेद श्रीमान् पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरकी टीकासे लेकर इसमे अंकित किये है। मै पण्डितजीकी टीकाको देखनेका सौभाग्य प्राप्त नही कर सका।

मूलानुगामी अनुवाद ही मुझे अधिक पसंद हैं। अतः मूलानुगामी संक्षिप्त अनुवाद ही मैंने इसमे किया है। जहाँ विषयको स्पष्ट करनेके लिये विस्तारकी आवश्यकता मालूम हुई वहाँ गोमटसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोसे सार लेकर भावार्थमे उसे संगृहीत किया है। तत्त्वार्थसूत्र जन-जनकी श्रद्धाका भाजन है क्योकि उसमे प्रथमानुयोग को छोडकर तीन अनुयोगोका सार समाया हुआ है। इसी प्रकार यह तत्त्वार्थसार भी जन-जनकी श्रद्धाका भाजन हो, ऐसी आशा है क्योकि इसमे तत्त्वार्थसूत्रसे भी अधिक सामग्री संकलित है। जिन पदार्थोंके लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमे नही आ सके है उन्हे तत्त्वार्थसारकार-ने श्लोकोके द्वारा स्पष्ट किया है। अतः नित्य स्वाध्यायके सिवाय यदि पठनक्रममें भी इसका समावेश किया जाय तो छात्र सरलतासे वस्तुस्वरूपको समझ सकेंगे। सर्वार्थसिद्धि के विकल्पमे यह रखा जा सकता है।

परिशिष्टमें श्लोकानुक्रमणीके बाद लक्षणकोष दिया गया है जिससे किस पदार्थका लक्षण कहाँ है इसे पाठक अनायास खोज सकेंगे। प्रारम्भमे विस्तृत विषयसूची भी है।

प्रस्तावनामें तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओं और टीकाकारोंपर प्रकाश डालनेके सिवाय अमृतचन्द्रसूरिका भी परिचय दिया गया है। तत्त्वार्थसारका प्रतिपाद्य विषय

और उसके आधारोंका यथाशक्य निरूपण किया है। लेख-विस्तारके भयसे आधारोंके समस्त अवतरण नही दिये जा सके हैं, इसलिये मूलग्रन्थोंसे उनका अध्ययन अपेक्षित है यहाँ सकेत मात्र किया गया है। प्रस्तावनामें जिन ग्रंथो अथवा पत्र-पत्रिकाओसे सहायता ली गई है उन सबका निर्देश पृथक्से किया गया है। मैं उन सभी विद्वानोंके प्रति नम्र आभार प्रकट करता हूँ।

ग्रंथका प्रकाशन श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला वाराणसीकी ओरसे हो रहा है। इसलिये उसके मंत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया एवं अन्यान्य अधिकारी धन्यवादके पात्र है। साहित्यसेवाका मुझे व्यसन है इसलिये दिन-रातमे जब कभी भी समय मेरे पास नित्यकर्मोंसे बचता है उसका उपयोग साहित्य-निर्माणमे हो होता है।

अन्तमें अल्पज्ञताके कारण रही त्रुटियोके लिये विद्वनोसे क्षमा-प्ररार्थना करता हूँ।

विनीत

सागर **पन्नालाल जैन**

प्रस्तावनामें उपयुक्त सामग्री

१. तत्त्वार्थसूत्र—भास्करनन्दिको सुखबोध टीकासहित। संपादक श्री पं० शान्तिराजजी न्यायतीर्थ।
२. राजवार्तिक—भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित, संपादक डॉ० महेन्द्रकुमारजी
३ श्लोकवार्तिक—कुन्थुसागर ग्रंथमालासे प्रकाशित संपादक पं० माणिकचन्द्रजी।
४ तत्त्वार्थवृत्ति—भारतीय ज्ञानपीठ, संपादक डॉ० महेन्द्रकुमारजी।
५. तत्त्वानुशासन—वीरसेवामन्दिर, संपादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार।
६ जैनसाहित्य और इतिहास—ले० पं० नाथूरामजो प्रेमी।
७ जैनसंदेशके शोधाक, लखनऊ।
८. अनेकान्त—वीरसेवामन्दिरका मुखपत्र।
९ सर्वार्थसिद्धि—भारतीय ज्ञानपीठ, संपादक पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री।
१०. पुरुषार्थसिद्धयुपाय—रायचन्द्रग्रंथमाला, संपादक प० नाथूरामजी प्रेमी।
११. समयसार—अहिंसामन्दिर दिल्ली।
१२ प्रवचनसार—रायचन्द्रग्रंथमाला बम्बई।
१३. पञ्चास्तिकाय—रायचन्द्रग्रथमाला बम्बई।
१४. पञ्चसग्रह—भारतीय ज्ञानपीठ, संपादक पं० हीरालालजी शास्त्री।
१५. संस्कृतपंचसग्रह—माणिकचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई। आदि।

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय अधिकार

तृतीय अधिकार

चतुर्थ अधिकार

पञ्चम-अधिकार

षष्ठ-अधिकार

अष्टम-अधिकार

उपसंहार

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृतः

तत्त्वार्थसारः

मङ्गलाचरण

जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि प्रथितश्रियः।
मोहध्वान्तौघनिर्भेदि ज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः ॥ १ ॥

अर्थ–जिनकी अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्गलक्ष्मी प्रसिद्ध है ऐसे जिनेन्द्रभगवान्‌की वह ज्ञानरूप ज्योति जयवन्त है— सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है जो कि समस्त समीचीन तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाली है तथा मोहरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाली है।

भावार्थ—यहाँ अरहन्त भगवान्‌के केवलज्ञानका जयघोष किया गया है। चार घातियाकर्मोंको नष्ट करनेसे जिन्हें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबलरूपी अन्तरङ्गलक्ष्मी प्राप्त होती है तथा अशोकवृक्ष आदि अष्टप्रातिहार्य जिनके समवसरणकी शोभा बढाते हैं वे अरहन्त कहलाते हैं। दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहकर्मका सर्वथा क्षय करनेसे तथा बारहवें गुणस्थानके अन्तमे शेष तीन घातियाकर्मोंका क्षय होनेसे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह केवलज्ञान, मोहरूपी अन्धकारके समूहको सर्वथा नष्ट करनेवाला है तथा समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। जिनागमकी प्रामाणिकता सर्वज्ञकी वाणीसे है इसलिये मंगलाचरणके रूपमे यहाँ सर्वज्ञताकी मूल कारण जो केवलज्ञान है उसका जयकार किया गया है ॥ १ ॥

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा

अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—अब मोक्षाभिलाषी जीवोंके हितके लिये मोक्षमार्गको दिखलानेके हेतु प्रमुख दीपकस्वरूप यह तत्त्वार्थसार नामका ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्टरूपसे कहा जाता है ॥ २ ॥

मोक्षका मार्ग

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः ॥ ३ ॥

अर्थ—भव्यजीवोके मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोके समूहरूप है जो युक्ति और आगमसे अच्छी तरह निश्चित है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोकी एकरूपता ही मोक्षका मार्ग है अर्थात् ये तीनो मिलकर ही मोक्षके मार्ग है, एक-एक अथवा एक-दो मोक्षके मार्ग नही है। यह मोक्ष भव्य जीवोंको ही होता है अभव्य जीवोको नही, इसलिये ग्रन्थकारने '**भव्यानां**' पदके द्वारा मोक्षके अधिकारी जीवोका वर्णन किया है। जिस प्रकार औषधके श्रद्धान, यथार्थज्ञान और विधिपूर्वक सेवन करनेसे रोगका नाश होता है, एक या दोसे नही। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि तीनोके मिलनेसे मोक्ष होता है, इस युक्तिसे तथा **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इत्यादि आगमसे यह बात अच्छी तरह निश्चित है ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम् ।
उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्त्व—अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित जीव, अजीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और रागादिभावोकी निवृत्तिरूप उपेक्षा होना सम्यक्चारित्र सुनिश्चित है ॥ ४ ॥

सर्वप्रथम तत्त्वार्थ ही जाननेके योग्य है

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाविषयत्वमिता यतः ।
बोध्याः प्रागेव तत्त्वार्था मोक्षमार्गं बुभुत्सुभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गको जाननेके इच्छुक जीवोको सबसे पहले, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विषयभूत तत्त्वार्थ जाननेके योग्य है ॥ ५ ॥

सात तत्त्वार्थोंके नाम

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे ॥ ६ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गकी इच्छा करनेवाले जीवोंके लिये जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ जाननेके योग्य हैं।

भावार्थ—मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वार्थ है। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

जीव—जो चेतना अथवा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगसे सहित हो उसे जीव कहते हैं। **अजीव**—जो चेतना अथवा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगसे रहित हो वह अजीव है। **आस्रव**—आत्मामें नवीन कर्मोंके प्रवेशको आस्रव कहते हैं। **बन्ध**—आत्माके प्रदेशोंके साथ कर्मपरमाणुओंका नीर-क्षीरके समान एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहना बन्ध है। **संवर**—आस्रवका रुक जाना संवर कहलाता है। **निर्जरा**—पूर्वबद्ध कर्मोंका एकदेश क्षय होना निर्जरा है। **मोक्ष**—समस्त कर्मोंका आत्मासे सदाके लिये पृथक् हो जाना मोक्ष कहलाता है॥ ६॥

सात तत्त्वार्थोंमें हेय और उपादेयताका वर्णन

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥ ७॥
हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ।
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ ८॥

(षट्पदम्)

अर्थ—इन सात तत्त्वोमे जीवतत्त्व उपादेयरूपसे और अजीवतत्त्व हेय-रूपसे कहा गया है अर्थात् जीवतत्त्व ग्रहण करने योग्य और अजीवतत्त्व छोड़ने योग्य बतलाया गया है। छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणका कारण होनेसे आस्रवतत्त्व कहा गया है तथा छोडने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणरूप होनेसे बन्ध-तत्त्वका निर्देश हुआ है। सवर और निर्जरा ये दो तत्त्व, अजीवतत्त्वके छोडनेमें कारण होनेसे कहे गये है और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वके छोड देनेसे जीवकी जो अवस्था होती है उसे बतलानेके लिये मोक्षतत्त्व दिखाया गया है।

भावार्थ—जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व है। इनमें जीव उपादेय है और अजीव छोड़ने योग्य है, इसलिये इन दोनोंका कथन किया गया है। जीव अजीवका ग्रहण क्यों करता है, इसका कारण बतलानेके लिये आस्रवतत्त्वका कथन किया गया है। अजीवका ग्रहण करनेसे जीवकी क्या अवस्था होती है, यह बतलानेके लिये बन्धतत्त्वका निर्देश है। जीव अजीवका सम्बन्ध कैसे छोड़

सकता है, यह समझानेके लिये संवर और निर्जराका कथन है तथा अजीवका सम्बन्ध छूट जानेपर जीवकी क्या अवस्था होती है, यह बतानेके लिये मोक्षका वर्णन किया गया है। सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं और शेष पाँच तत्त्व उन दो तत्त्वोके संयोग तथा वियोगसे होनेवाली अवस्था-विशेष हैं ॥ ७-८ ॥

चार निक्षेप

तत्त्वार्थाः सन्त्यमी[1] नामस्थापनाद्रव्यभावतः।
न्यस्यमानतयादेशात् प्रत्येकं स्युश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥

अर्थ—ये सातो तत्त्वार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिपेक्षके द्वारा व्यवहारमे आते है, इसलिए प्रत्येक तत्त्वार्थ चार-चार प्रकारका होता है। जैसे नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव आदि ॥ ९ ॥

नामनिक्षेपका लक्षण

या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते।
द्रव्यस्य कस्यचित्संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् ॥१०॥

अर्थ—जाति, गुण, क्रिया आदि किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न कर किसी द्रव्यकी जो सज्ञा रखी जाती है वह नामनिपेक्ष कहा गया है ॥ १० ॥

स्थापनानिक्षेपका लक्षण

सोऽयमित्यक्ष[2]काष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥११॥

अर्थ—पासा तथा काष्ठ आदिके सम्बन्धसे 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तुमे जो किसी अन्य वस्तुकी व्यवस्था की जाती है वह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

भावार्थ—किसीमे किसी अन्यकी कल्पना करनेको स्थापना कहते है। इसके दो भेद है—१. तदाकार स्थापना और २ अतदाकार स्थापना। जैसा आकार है उसमे उसी आकारवालेकी कल्पना करना तदाकार स्थापना है, जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमामे पार्श्वनाथ भगवान्की स्थापना करना। और भिन्न आकार-वालेमे भिन्न आकारवालेकी कल्पना करना अतदाकार स्थापना है, जैसे शतरंज-की गोटोमें बजीर, बादशाह आदिकी कल्पना करना ॥ ११ ॥

१ 'खल्वमी' पाठान्तरम्। २ 'सोऽयमित्यक्षकाष्ठादौ सम्बन्धेनान्यवस्तुन.' पाठान्तरम्।

द्रव्यनिक्षेपका लक्षण

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् ।
स्याद्गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः ॥१२॥

अर्थ—किसी द्रव्यको, आगे होनेवाली पर्यायकी अपेक्षा वर्तमानमें ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते है।

भावार्थ—द्रव्यकी जो पर्याय पहले हो चुकी है अथवा आगे होनेवाली है उसकी अपेक्षा द्रव्यका ग्रहण करना अर्थात् उसे भूतपर्यायरूप अथवा भविष्यत् पर्यायरूप वर्तमानमें ग्रहण करना सो द्रव्यनिक्षेप है ॥ १२ ॥

भावनिक्षेपका लक्षण

वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम् ।
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥१३॥

अर्थ—वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको जिनेन्द्र भगवान् भावनिक्षेप कहते है।

भावार्थ—जो पदार्थ वर्तमानमें जिस पर्यायरूप है उसे उसी प्रकार कहना भावनिक्षेप है ॥ १३ ॥

प्रमाण और नयके द्वारा जीवादि पदार्थोंका बोध होता है

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये ।
प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा ॥१४॥

अर्थ—ये सभी तत्त्वार्थ सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्धिके लिये प्रमाणके द्वारा प्रमित होते है और नयोके द्वारा नीत होते हैं अर्थात् प्रमाण और नयोके द्वारा जाने जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रमाणका लक्षण और उसके भेद

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम् ।
तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः ॥१५॥

अर्थ—उन प्रमाण और नयोंमें प्रमाणको सम्यग्ज्ञानरूप कहा है अर्थात् समीचीनज्ञानको प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक परोक्ष प्रमाण और दूसरा प्रत्यक्षप्रमाण।

भावार्थ—'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'—जिसके द्वारा जाना जावे उसे प्रमाण कहते है, इस व्युत्पत्तिको आधार मानकर कितने ही दर्शनकार इन्द्रियोंको तथा

पदार्थोंके साथ होनेवाले उनके सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं परन्तु जैनदर्शनमें जाननेका मूल साधन होनेके कारण ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है। इसके अभावमे इन्द्रियाँ और सन्निकर्ष अपना कार्य करनेमे असमर्थ रहते है ॥ १५ ॥

परोक्षप्रमाणका लक्षण

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत् ।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥१६॥

अर्थ—गृहीत अथवा अगृहीत परकी प्रधानतासे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसे परोक्षप्रमाण कहा गया है।

भावार्थ—जो ज्ञान परकी प्रधानतासे होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। परके दो भेद है—१ समुपात्त और २ अनुपात्त। जो प्रकृतिसे ही गृहीत है उसे समुपात्त कहते है, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रियाँ। तथा जो प्रकृतिसे गृहीत न होकर पृथक् रहता है उसे अनुपात्त कहते हैं, जैसे प्रकाश आदि। इस तरह इन्द्रियादिक गृहीत कारणो और प्रकाश आदि अगृहीत कारणोंसे जो ज्ञान होता है वह परोक्षप्रमाण कहलाता है ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षप्रमाणका लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षामुक्तमव्यभिचारि च ।
साकारग्रहणं यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते ॥१७॥

अर्थ—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे मुक्त तथा दोषोंसे रहित पदार्थका जो सविकल्पज्ञान होता है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

भावार्थ—साकार और अनाकारके भेदसे पदार्थका ग्रहण दो प्रकारका होता है। जिसमे घट-पटादिका आकार प्रतिफलित होता है उसे साकारग्रहण कहते है और जिसमे किसी वस्तुविशेषका आकार प्रतिफलित न होकर सामान्य ग्रहण होता है उसे अनाकारग्रहण कहते हैं। साकारग्रहणको ज्ञान और अनाकार-ग्रहणको दर्शन कहते है। जिस ज्ञानमे इन्द्रिय और मनकी सहायता आवश्यक नही होती, जो विशदरूप होनेके कारण दोषरहित होता है तथा जिसमे पदार्थोंके आकार विशेषरूपसे प्रतिभासित होते है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते है ॥ १८ ॥

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप और उसके भेद

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः ।
मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ॥१८॥

अर्थ—जो स्व-परको जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्ययज्ञान, और ५ केवलज्ञान ॥ १८ ॥

मतिज्ञानके भेद और उसकी उत्पत्तिके कारण

स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा ।
प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ॥१९॥
बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः ।
इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते ॥२०॥

अर्थ—स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला विज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमिति, बुद्धि और मेधा आदि जो ज्ञान है वे मतिज्ञानके भेद है। यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—शरीरके भीतर रहनेवाला, ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त 'मै' एक पृथक् पदार्थ हूँ, ऐसा जो अपने आप ज्ञान होता है उसे **स्वसंवेदन** कहते है। स्पर्शनादि इन्द्रियोके द्वारा उनके विषयोका जो ज्ञान होता है वह **इन्द्रियोत्थ विज्ञान** कहलाता है। इसे ही **मति** कहते है। अतीत वस्तुकी स्मृतिको **स्मरण** कहते है। 'यह वह है' इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृतिके योगरूप जो ज्ञान होता है उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहते है। 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकारके व्याप्तिज्ञानको **ऊह** या **तर्क** कहते है। साधनके द्वारा साध्यका स्वयका ज्ञान होना **स्वार्थानुमिति** है किसी पदार्थको देखते ही उसकी विशेषताको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको **बुद्धि** कहते है और किसी पदार्थको इस तरह ग्रहण करना कि उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जावे उसे **मेधा** कहते है। स्वसवेदनको आदि लेकर ये ज्ञानके जितने रूप है वे सब मतिज्ञानके भेद है। यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवके पाँचो इन्द्रियो और मनके निमित्तसे होता है तथा अन्य जीवोके जितनी इन्द्रियाँ होती है उन्हीके निमित्तसे होता है ॥ १९-२० ॥

मतिज्ञानके अन्य भेद

अवग्रहस्ततस्त्वीहा ततोऽवायोऽथ धारणा ।
बहोर्बहुविधस्यापि क्षिप्रस्यानिःसृतस्य च ॥२१॥
अनुक्तस्य ध्रुवस्येति[१] सेतराणां तु ते मताः ।
व्यक्तस्यार्थस्य विज्ञेयाश्चत्वारोऽवग्रहादयः ॥२२॥

१. 'ध्रुवस्यात्' पाठान्तरम् ।

व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या एक एव ह्यवग्रहः ।
अप्राप्यकारिणी चक्षुर्मनसी परिवर्ज्य सः ॥२३॥
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः क्रियते प्राप्यकारिभिः ।

अर्थ—मतिज्ञानमें सबसे पहले अवग्रह होता है, उसके बाद ईहा होती है, उसके पश्चात् अवाय होता है और उसके बाद धारणा होती है । अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके क्रमसे विकसित होनेवाले भेद है । ये चार भेद बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, नि.सृत उक्त और ध्रुव इन बारह् प्रकारके पदार्थोके होते है । इनमेसे व्यक्त अर्थात् स्पष्ट पदार्थके अवग्रह आदि चारो ज्ञान होते है परन्तु व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट पदार्थके ईहा आदि तीन ज्ञान नही होते, मात्र अवग्रह ही होता है । व्यञ्जनावग्रह दूरसे पदार्थको जाननेवाले चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोसे होता है । चक्षु और मनके सिवाय शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है अर्थात् पदार्थसे सम्बद्ध होकर पदार्थको जानती है ।

भावार्थ—योग्य क्षेत्रमे स्थित पदार्थके साथ इन्द्रियका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है और दर्शनके बाद जो प्रथम ग्रहण होता है उसे **अवग्रह** कहते है, जैसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण होना अवग्रह है । अवग्रह-के द्वारा जाने हुए पदार्थमे उसकी विशेषताको जाननेका जो व्यापार है उसे **ईहा** कहते है, जैसे अवग्रहके द्वारा जाना हुआ शुक्लरूप बलाकाका है या पताकाका । ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थका विशिष्ट चिह्नोसे निश्चय हो जाना **अवाय** है, जैसे उत्पतन और निपतनके द्वारा पूर्व उदाहरणमे निश्चय हो जाना कि यह बलाका ही है अथवा फहरानेकी क्रिया देखकर निश्चय होना कि यह पताका ही है । अवायके द्वारा निश्चित पदार्थको कालान्तरमें नही भूलना—उसकी स्मृति रखना **धारणा** है । अवग्रहादि चार ज्ञान क्रमसे होते है । जब किसी नवीन पदार्थको देखते है तब इनकी क्रमिक उत्पत्ति स्पष्ट ही अनुभवमे आती है और जब किसी पूर्वानुभूत पदार्थको देखते है तब इनकी उत्पत्ति शीघ्रतासे होनेके कारण अनुभवमे नही आती । अवग्रह आदि चार प्रकारके ज्ञान बहु आदि पदार्थोके होते है । बहुत सख्या अथवा बहुत प्रमाणवाली वस्तुको **बहु** कहते है । इससे विपरीतको **एक** कहते है । बहुत प्रकारकी वस्तुओको **बहुविध** कहते है और एक प्रकारकी वस्तुको **एकविध** कहते है । शीघ्रतासे परिवर्तित होनेवाली वस्तुको क्षिप्र कहते है । इससे विपरीतको **अक्षिप्र** कहते है । तालाब आदिसे बाहर नही निकले हुए पदार्थको **अनिःसृत** कहते हैं और बाहर निकले हुए पदार्थको **निःसृत** कहते है । विना कहे हुए पदार्थको **अनुक्त** कहते है और कहे हुए पदार्थको

उक्त कहते हैं। पर्वतादिक स्थिर पदार्थको **ध्रुव** कहते है और गतिशील पदार्थको **अध्रुव** कहते हैं। इन बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रह आदि चार ज्ञान होते हैं। इसलिये बारहमे चारका गुणा करनेपर अडतालीस भेद होते है। ये अड़तालीस भेद पाँच इन्द्रियो तथा मनसे होते है, इसलिये अड़तालीसमें छहका गुणा करनेपर दो सौ अठासी भेद होते है। इनमे व्यञ्जनावग्रहके अड़तालीस भेद मिलानेपर मतिज्ञानके कुल तीनसौ छत्तीस भेद होते है।

व्यक्त अर्थात् स्पष्ट पदार्थके अवग्रह आदि चारो ज्ञान होते है परन्तु व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट पदार्थके ईहा, अवाय और धारणा ये तीन ज्ञान नहीं होते, मात्र अवग्रहज्ञान होता है और वह भी चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होता है। चक्षु और मनसे न होनेका कारण यह है कि ये दोनों इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी है अर्थात् पदार्थसे असम्बद्ध रहकर उसे जानती है। चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी है क्योकि पदार्थसे सम्बद्ध होकर उसे जानती है। तीन सौ छत्तीस भेदोमे अवग्रहके ७२ + ४८ = १२० भेद है तथा शेष तीन ज्ञानोके बहत्तर-बहत्तर भेद है ॥ २१–२३½ ॥

श्रुतज्ञानका स्वरूप तथा भेद

मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम् ॥२४॥
तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत् ।

अर्थ—मतिज्ञानके बाद अस्पष्ट अर्थकी तर्कणाको लिये हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है। विस्तारकी अपेक्षा पर्याय आदिके भेदसे श्रुतज्ञान बीस तरहका होता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति मतिज्ञानपूर्वक होती है अर्थात् मतिज्ञान पहले होता है और श्रुतज्ञान उसके बाद होता है। श्रुतज्ञानमे इन्द्रिय और मनका आलम्बन रहता है इसलिये यह परोक्षप्रमाण कहलाता है। इसमें पदार्थकी तर्कणा प्रत्यक्षज्ञानकी तरह स्पष्ट नही रहती। क्रमिकवृद्धिकी अपेक्षा इसके १ पर्याय, २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६ पदसमास, ७ संघात, ८ सघातसमास, ९ प्रतिपत्तिक, १० प्रतिपत्तिकसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृतप्राभृत, १४ प्राभृतप्राभृतसमास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तुसमास, १९ पूर्व और २० पूर्वसमास ये बीस भेद होते हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ पर्याय—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानपूर्वक जो लब्ध्यक्षर नामका सर्वजघन्य श्रुतज्ञान होता है उसे पर्यायज्ञान कहते हैं।

२ पर्यायसमास—पर्यायज्ञानके ऊपर तथा अक्षरज्ञानके पूर्व तक असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानोंकी वृद्धिको लिये हुए जो श्रुतज्ञान होता है उसे पर्याय-समास कहते हैं।

३ अक्षर—उत्कृष्ट पर्यायसमासज्ञानसे अनन्तगुणा अक्षर नामका श्रुतज्ञान होता है।

४ अक्षरसमास—अक्षरज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पहलेके ज्ञानको अक्षर-समास श्रुतज्ञान कहते हैं।

५ पद—अक्षरज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरोकी वृद्धि हो जाती है तब पदनामका श्रुतज्ञान होता है। सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोंका एक मध्यमपद होता है।

६ पदसमास—एकपदके ऊपर और सघातनामक श्रुतज्ञानके पूर्व जो ज्ञान होता है उसे पदसमास कहते है।

७ संघात—एकपदके आगे क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात हजार पदकी वृद्धि हो जावे तब सघात नामका श्रुतज्ञान होता है। संघात नामक श्रुतज्ञानका इतना विस्तार हो जाता है कि उससे चारगतियोमेसे एकगतिका वर्णन होने लगता है।

८ संघातसमास—सघातज्ञानके ऊपर और प्रतिपत्तिकज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प है वे सघातसमास कहलाते है।

९ प्रतिपत्तिक—संघात श्रुतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात हजार सघातोंकी वृद्धि हो जावे तब प्रतिपत्तिक नामका श्रुतज्ञान होता है। इससे नरकादि चारो गतियोका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

१० प्रतिपत्तिकसमास—प्रतिपत्तिकज्ञानके ऊपर तथा अनुयोगज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प है उन्हे प्रतिपत्तिकसमास श्रुतज्ञान कहते है।

११ अनुयोग—प्रतिपत्तिकज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब सख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि हो जावे तब अनुयोग नामका श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

१२ अनुयोगसमास—अनुयोगज्ञानके ऊपर प्राभृतप्राभृतज्ञानके पूर्व तक ज्ञानके जितने विकल्प है उन्हे अनुयोगसमास कहते है।

१३ प्राभृतप्राभृत—अनुयोगज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगोकी वृद्धि हो जावे तब प्राभृतप्राभृत नामका श्रुतज्ञान होता है। वस्तु नामक श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

१४ प्राभृतप्राभृतसमास—प्राभृतप्राभृतज्ञानके ऊपर और प्राभृतज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प हैं वे प्राभृतप्राभृतसमास कहलाते हैं।

१५ प्राभृत—प्राभृतप्राभृतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृतप्राभृतकी वृद्धि हो जावे तब प्राभृत नामका श्रुतज्ञान होता है।

१६ प्राभृतसमास—प्राभृतज्ञानसे ऊपर और वस्तुज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प हैं वे प्राभृतसमास कहलाते है।

१७ वस्तु—प्राभृतज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब बीस प्राभृतकी वृद्धि हो जावे तब वस्तु नामका श्रुतज्ञान होता है। एक-एक वस्तु अधिकारमें बीस-बीस प्राभृत होते है और एक-एक प्राभृतमें चौबीस-चौबीस प्राभृतप्राभृत होते हैं।

१८ वस्तुसमास—वस्तुज्ञानके ऊपर और पूर्वज्ञानके पहले जो ज्ञानके विकल्प है उन्हे वस्तुसमास श्रुतज्ञान कहते है।

१९ पूर्व—वस्तुज्ञानके ऊपर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते जब पदसघात आदिकी वृद्धि हो चुकती है तब पूर्व नामका श्रुतज्ञान होता है। इसके उत्पाद, आग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। इनके क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तु नामक अधिकार है।

२० पूर्वसमास—पूर्वज्ञानके ऊपर और उत्कृष्ट श्रुतज्ञानके पहले ज्ञानके जितने विकल्प है वे पूर्वसमास नामक श्रुतज्ञान कहलाते है।

इन बीस भेदोंके सिवाय श्रुतज्ञानके अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्टकी अपेक्षा दो भेद और होते है। जिनमें अङ्गबाह्यके अनेक भेद है और अङ्गप्रविष्टके १ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ धर्मकथाङ्ग, ७ उपासकाध्ययनाङ्ग, ८ अन्त कृद्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विपाकसूत्राङ्ग और १२ दृष्टिवादाङ्ग ये बारह भेद हैं।

अङ्गबाह्यके, १ सामायिक, २ चतुर्विंशस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दर्शवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरोक, और १४ निषिद्धिका ये चौदह भेद हैं।

इनके अवान्तरभेद तथा स्वरूप आदिका वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्डकी श्रुतज्ञानप्ररूपणासे जानना चाहिये ॥ २४–२५ ॥

अवधिज्ञानका स्वरूप तथा उसके भेद

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः ॥२५॥
अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितिः ।
वर्धिष्णुर्हीयमानश्च षड्विकल्पः स्मृतोऽवधिः ॥२६॥
देवानां नारकाणां च स भवप्रत्ययो भवेत् ।
मानुषाणां तिरश्चां च क्षयोपशमहेतुकः ॥२७॥

अर्थ—इन्द्रियादिक परपदार्थोकी अपेक्षाके विना रूपी पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान कहा गया है। अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमानके भेदसे वह अवधिज्ञान छह प्रकारका स्मरण किया गया है। इनके सिवाय अवधिज्ञानके भवप्रत्यय और क्षयोपशमहेतुक इस प्रकार दो भेद और माने गये हैं। इनमे देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा मनुष्य और तिर्यञ्चोके क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान होता है।

भावार्थ—अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञानोंमे सम्मिलित है। इसकी उत्पत्ति बाह्य निमित्तोकी अपेक्षाके विना होती है। यह अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए रूपीद्रव्योको जानता है। यहाँ रूपीद्रव्यसे पुद्गलद्रव्य तथा ससारी जीवद्रव्यका ग्रहण है। यह अवधिज्ञान भवप्रत्यय तथा क्षयोपशम-हेतुकके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो किसी भवका निमित्त पाकर नियमसे प्रकट होता है वह **भवप्रत्यय** कहलाता है। यह देव और नारकियोके नियमसे होता है। **क्षयोपशमहेतुक** अवधिज्ञानके अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमानकी अपेक्षा छह भेद है। जो एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे अथवा एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे साथ जावे उसे **अनुगामी** कहते है। जो साथ न जावे उसे **अननुगामी** कहते है। जो एक-सा रहे न घटे न बढ़े उसे **अवस्थित** कहते है। जो एक-सा न रहे, कभी घटे कभी बढे उसे **अनवस्थित** कहते है। जो उत्पत्तिके समयसे लेकर आगे बढता रहे उसे **वर्धमान** कहते हैं और जो उत्पत्तिके समयसे लेकर घटता रहे उसे **हीयमान** कहते हैं।

इन भेदोंके सिवाय अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि, ये तीन भेद भी आगममें बताये गये है। इनमे देशावधि चारो गतियोंमें होता है परन्तु परमावधि और सर्वावधि मनुष्यगतिमे मुनियोंके ही होते है॥ २५–२७ ॥

मन:पर्ययज्ञानका लक्षण और भेद

परकीयमनःस्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया ।
स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जुविपुले मती ॥२८॥

अर्थ—अन्य पदार्थोकी अपेक्षाके विना दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जानना मन:पर्यय ज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद हैं।

भावार्थ—जो किसी बाह्य पदार्थकी सहायताके विना ही दूसरेके मनमें स्थित रूपीपदार्थको जाने उसे मन पर्यय ज्ञान कहते है। इसके दो भेद हैं—१ ऋजुमति और विपुलमति। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

ऋजुमति—सरल मन-वचन-कायसे चिन्तित दूसरेके मनमे स्थित रूपी पदार्थको जो जाने उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते है।

विपुलमति—सरल तथा कुटिल मन-वचन-कायसे चिन्तित दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको जाने उसे विपुलमति मन.पर्ययज्ञान कहते हे।

पुद्गलद्रव्य त्रिकालविषयक है। उसमे वर्तमान जीवके द्वारा जिसका चिन्तन किया जा रहा है ऐसे पुद्गलद्रव्यको ऋजुमतिज्ञान जानता है और भूतकालमे जिसका चिन्तन किया हो, भविष्यकालमे जिसका चिन्तन किया जावेगा और वर्तमान कालमे जिसका चिन्तन किया जा रहा हो उसे विपुलमति जानता है ॥ २८ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिमें तथा अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां विशेषश्चिन्त्यतां तयोः ।
स्वामिक्षेत्रविशुद्धिभ्यो विषयाच्च सुनिश्चितः ॥२९॥
स्याद्विशेषोऽवधिज्ञानमनःपर्ययबोधयोः ।

अर्थ—विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा ऋजुमति तथा विपुलमतिमें विशेषता जाननी चाहिये। और स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि तथा विषयकी अपेक्षा अवधि और मन पर्ययज्ञानमें विशेषता सुनिश्चित है।

भावार्थ—ऋजुमतिज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिज्ञानमें विशुद्धता अधिक है। इसके सिवाय ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् ऐसे जीवोंको भी हो जाता है जो उपरितन गुणस्थानोंसे पतित होकर नीचे आ जाते है परन्तु विपुलमति उन्हीं जीवोंको होता है जो उपरितन गुणस्थानोंसे नीचे नही आते। तात्पर्य यह है कि ऋजुमति उपशमक और क्षपक दोनों श्रेणीवाले मुनियोंके होता है जबकि विपुलमति क्षपकश्रेणीवाले मुनिके ही होता है। यद्यपि सामान्यरूपसे दोनों

प्रकारके मनःपर्ययज्ञान मुनियोंके ही होते हैं तो भी विपुलमति उन्हीं मुनियोंके होता है जिनका चारित्र उत्तरोत्तर बढ रहा है तथा जो किसी ऋद्धिके धारक होते हैं। विषयकी अपेक्षा भी दोनोंमें विशेषता है। विषयका वर्णन द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन चारकी अपेक्षा होता है। जैसे ऋजुमतिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण औदारिक शरीरके निर्जीर्ण समयप्रबद्धप्रमाण है और उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण चक्षुरिन्द्रियके निर्जराद्रव्यप्रमाण है। अर्थात् समूचे औदारिक शरीरसे जितने परमाणुओंका प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे जघन्य ऋजुमति जानता है और चक्षुरिन्द्रियसे जितने परमाणुओंका प्रचय प्रत्येक समय खिरता है उसे उत्कृष्ट ऋजुमति जानता है। ऋजुमतिके उत्कृष्ट द्रव्यमे मनोद्रव्यवर्गणाके अनन्तवें भागका भाग देनेपर जो द्रव्य बचता है उसे जघन्य विपुलमति जानता है। विस्रसोपचयसे रहित आठ कर्मोंके समयप्रबद्धका जो प्रमाण है उसमें एकबार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो लब्ध आता है उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है। इस द्वितीय द्रव्यके प्रमाणमे असंख्यातकल्पोके जितने समय है उतनी बार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो द्रव्य शेष बचता है वह विपुलमतिका उत्कृष्ट द्रव्य है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य ऋजुमतिज्ञान दो तीन कोश और उत्कृष्ट ऋजुमतिज्ञान सात-आठ योजनकी बातको जानता है। तथा जघन्य-विपुल मतिज्ञान आठ-नव योजन और उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान पैतालीसलाख योजन विस्तृत अढाई द्वीपकी बातको जानता है। मानुषोत्तरपर्वत तकके क्षेत्रको अढ़ाई द्वीप कहते है परन्तु विपुलमतिज्ञान मानुषोत्तरपर्वतके बाहर कोणोंमे स्थित पदार्थको भी जानता है, इतनी विशेषता जाननी चाहिये। मनःपर्ययज्ञानका विषयक्षेत्र गोल न होकर समचतुरस्रघनप्रतररूप पैतालीस लाख योजन प्रमाण है। कालकी अपेक्षा जघन्य ऋजुमति दो-तीन भव और उत्कृष्ट ऋजुमति सात-आठ भवकी बात जानता है तथा जघन्य विपुलमतिज्ञान आठ-नौ भव तथा उत्कृष्ट विपुलमतिज्ञान पल्यके असख्यातवे भाग प्रमाण कालकी बातको जानता है। भावकी अपेक्षा यद्यपि ऋजुमतिका जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवलिके असंख्यातवे भाग प्रमाण है तो भी जघन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असख्यातगुणा है। विपुलमतिका जघन्य प्रमाण ऋजुमतिके उत्कृष्ट विषयसे असंख्यातगुणा है और उत्कृष्ट विषय असंख्यातलोक प्रमाण है। इस प्रकार मनःपर्ययज्ञानके दोनो भेदोमे परस्पर अन्तर है। अब अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमे विशेषता बताते है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि और विषयकी अपेक्षा विशेषता है। जैसे अवधिज्ञान तो चारों गतियोके जीवोंके हो सकता है परन्तु मनःपर्ययज्ञान मनुष्यगतिमे छठवें गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तकके जीवोके ही होता है। अवधिज्ञान उत्कृष्टताकी अपेक्षा असंख्यात लोककी बात

जान सकता है परन्तु मनःपर्ययज्ञान पैंतालीस लाख योजनकी ही बात जानता है। अवधिज्ञानमें जितनी विशुद्धता है उससे मनःपर्ययज्ञानकी विशुद्धता कई गुणी है। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय एक परमाणु है, पर मनःपर्ययज्ञानका विषय परमाणुका अनन्तवाँ भाग है ॥ २९½ ॥

केवलज्ञानका लक्षण

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम् ॥३०॥
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम् ।

अर्थ—जो किसी बाह्य पदार्थको सहायतासे रहित हो, आत्मस्वरूपसे उत्पन्न हो, आवरणसे रहित हो, क्रमरहित हो, घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थोंको जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते है ॥ ३०½ ॥

मतिज्ञानादि पांच ज्ञानोंका विषयनिबन्ध

मतेर्विषयसम्बन्धः श्रुतस्य च निबुध्यताम्[1] ॥३१॥
असर्वपर्ययेष्वत्र सर्वद्रव्येषु धीधनैः ।
असर्वपर्ययेष्विष्टो रूपिद्रव्येषु सोऽवधेः ॥३२॥
स मनःपर्ययस्येष्टोऽनन्तांशेऽवधिगोचरात् ।
केवलस्याखिलद्रव्यपर्यायेषु स सूचितः ॥३३॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय सम्बन्ध समस्त पर्यायोसे रहित समस्त द्रव्योमे बुद्धिमानोको जानना चाहिये। अवधिज्ञानका विषय सम्बन्ध समस्त पर्यायोसे रहित रूपीद्रव्यों—पुद्गल और ससारी जीवोमे है। मनःपर्ययज्ञानका विषय सम्बन्ध अवधिज्ञानके विषयसे अनन्तवे भाग है और केवलज्ञानका विषय सम्बन्ध समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंमें कहा गया है।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जानते तो समस्त द्रव्योंको है परन्तु उनकी कुछ पर्यायोंको ही जानते हैं, समस्त पर्यायोंको नहीं। ये दोनों ज्ञान अरूपी द्रव्योंको अनुमान तथा आगमके द्वारा जानते है। अवधिज्ञान रूपीद्रव्योंको जानता है परन्तु उनकी सब पर्यायोंको नही जानता। पुद्गलद्रव्य तो रूपी है ही, परन्तु उपचारसे संसारी जीवोंको भी रूपी कहा गया है। सूक्ष्मताकी अपेक्षा अवधिज्ञानका सर्वोत्कृष्ट भेद सर्वावधिज्ञान परमाणु तकको जानता है। मनःपर्ययज्ञानका विषय अवधिज्ञानके विषयसे अनन्तवें भाग है अर्थात् अवधिज्ञान

---

१ 'विबुध्यताम्' पाठान्तरम् ।

परमाणुको जानता है तो मनःपर्ययज्ञान परमाणुके भी अनन्तवें भागको जानता है। यद्यपि परमाणु स्वय अविभागी एकप्रदेशी द्रव्य है तथापि सूक्ष्मताको बतलानेके लिये उसमे अनन्तभागोकी कल्पना की गई है। यदि परमाणुके अनन्तभाग किये जावे तो उनमेसे एक भागको मनःपर्ययज्ञान जान सकता है। केवलज्ञान समस्त द्रव्योकी समस्त पर्यायोंको एक साथ जानता है। एक-एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं, अनन्तानन्त आगे होनेवाली है और वर्तमानमें एक पर्याय है, इन सबके समूहको केवलज्ञान एक-साथ जानता है ।। ३०½–३३ ।।

एक जीवमें एक-साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

जीवे युगपदेकस्मिन्नेकादीनि विभावयेत् ।
ज्ञानानि चतुरन्तानि न तु पञ्च कदाचन ।। ३४ ।।

अर्थ—एक जीवमें एकसाथ एकको आदि लेकर चार तक ज्ञान हो सकते है। पाँच ज्ञान एक साथ कभी नही होते।

भावार्थ—मति आदि पाँच ज्ञानोंमें प्रारम्भके चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। क्षायिकज्ञान ज्ञानावरणके क्षयसे होता है तथा वह अकेला ही रहता है अर्थात् उसके प्रकट होनेपर ज्ञानमें मतिज्ञानादि चारका व्यवहार नष्ट हो जाता है। एक जीवके एकसाथ एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते है, जैसे एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान, दो हो तो मति और श्रुत, तीन हो तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय और चार हो तो मति, श्रुत, अवधि ओर मनःपर्यय ।। ३४ ।।

मिथ्याज्ञान तथा उसकी अप्रमाणता

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वसमवायिनः ।
मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ।।३५।।
अविशेषात्सदसतोरुपलब्धेर्यदृच्छया ।
यत उन्मत्तवज्ज्ञान न हि मिथ्यादृशोऽञ्जसा ।।३६।।

अर्थ—मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यात्वके साथ सम्बन्ध रखने वाले है तो मिथ्याज्ञान कहे जाते है और उस दशामें उनमे प्रमाणता नही मानी जाती। मिथ्यादृष्टि जीवको सत् और असत् वस्तुका ज्ञान पागल मनुष्यके समान स्वेच्छानुसार समानरूपसे होता है, इसलिये उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है।

भावार्थ—मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान

दोनों रूप होते हैं। जब सम्यग्दृष्टि जीवके होते है तब सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं और उस दशामें प्रमाण माने जाते हैं परन्तु जब मिथ्यादृष्टि जीवके होते है तब मिथ्याज्ञान माने जाते है और उस दशामें अप्रमाण माने जाते है। यद्यपि ज्ञान न मिथ्या होता है और न सम्यग्, तो भी पात्रकी विशेषतासे उसमें मिथ्या और सम्यग्का व्यवहार होता है। जिस प्रकार पात्रकी विशेषतामे दूध कडुआ कहा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पात्रकी विशेषतासे ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीवोको पदार्थका प्रतिभास सामान्यरूपसे एक समान होता है तो भी मिथ्यादृष्टिका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही रहता है क्योंकि उसे सत् और असत् पदार्थमे कोई विशेषता नही रहती, वह अपनी इच्छासे दोनों पदार्थोंको समानरूपसे ग्रहण करता है। जैसे पागल मनुष्य कभी स्त्रीको स्त्री और माताको माता जानता है परन्तु उसके वैसे जाननेमें स्थिरता नही रहती, इसलिये पागल मनुष्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहा जाता। मन पर्ययज्ञान छठवे गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तकके मुनियोके ही होता है और केवलज्ञान अरहन्त, सिद्ध अवस्थामे ही होता है इसलिये ये दोनो सदा सम्यग् ही होते है उनमें मिथ्यापना नही रहता ॥ ३५-३६ ॥

नयका लक्षण और उसके भेद

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥३७॥

अर्थ—प्रमाणके द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक देशको जो जानता है वह नय है। नय अनेक प्रकारका माना गया है।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका भण्डार है ऐसा प्रमाणज्ञानके द्वारा अनुभवमे आता है। उन अनन्त धर्मोंमेंसे जो किसी एकधर्मको जानता है वह नय कहलाता है। इस नयके अनेक भेद हैं ॥ ३७ ॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका स्वरूप

द्रव्यपर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः।
नयावंशेन नेतारौ द्वौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ ॥३८॥
अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥३९॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः ॥४०॥

अर्थ—संसारकी सभी वस्तुएँ द्रव्य और पर्यायरूप हैं। वस्तुकी इन दोनों रूपताको एक अंशसे ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। अर्थात् जब वस्तुकी द्रव्यरूपताको ग्रहण किया जाता है तब द्रव्यार्थिकनयका उदय होता है और जब पर्यायरूपताको ग्रहण किया जाता है तब पर्यायार्थिकनयका उदय होता है। अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अर्थात् तीनोंका एक ही अर्थ होता है। जो नय इन्हे विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्यायको विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

भावार्थ—जीवद्रव्य और नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवपर्याय, पुद्गलद्रव्य और घट-पटादि पर्याय इस तरह ससारके समस्त पदार्थ द्रव्य और पर्यायरूप अनुभवमे आते हैं। जब पर्याय अंशको गौणकर मुख्यरूपसे द्रव्य अंशको जाना जाता है तब द्रव्यार्थिकनय होता है और जब द्रव्य अंशको गौणकर मुख्यरूपसे पर्याय अंशको जाना जाता है तब पर्यायार्थिकनय होता है। अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य इन तीनो शब्दोका एक ही अर्थ होता है। जो ज्ञान अनुप्रवृत्ति, सामान्य या द्रव्यको जानता है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। इसी प्रकार व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एक अर्थके वाचक है जो नय पर्यायको विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय है ॥ ३८-४० ॥

द्रव्यार्थिकनयके भेद

शुद्धाशुद्धार्थसंग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः।
नैगमसंग्रहश्चैव व्यवहारश्च संस्मृतः ॥४१॥

अर्थ—शुद्ध और अशुद्ध अर्थको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकारका माना गया है—१ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार।

भावार्थ—द्रव्यार्थिकनय न केवल शुद्ध द्रव्यको ही ग्रहण करता है किन्तु अशुद्ध द्रव्यको भी ग्रहण करता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा शुद्ध ही रहते हैं और जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध दोनो प्रकारके होते है। कर्म-नोकर्मके सम्बन्धसे रहित जीवद्रव्यका जो मुक्त अवस्थामे परिणमन है वह शुद्ध जीवद्रव्यका परिणमन है और ससारी अवस्थामें जीवका जो परिणमन है वह अशुद्ध जीवद्रव्यका परिणमन है। इसी प्रकार जीवके रागादिभावोका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्यमें जो कर्मरूप परिणमन है वह अशुद्ध पुद्गलका परिणमन है और जीवनिरपेक्ष पुद्गलका जो परिणमन है वह शुद्ध पुद्गलका परिणमन है। अथवा पुद्गलका जो अणुरूप परिणमन है वह शुद्ध परिणमन है और द्वयणुक आदि स्कन्धरूप जो परिणमन है वह अशुद्ध

परिणमन है। एक द्रव्य अनेक शुद्ध-अशुद्ध पर्यायोंका समूह है इसलिये द्रव्यार्थिक नय शुद्ध-अशुद्ध दोनों द्रव्योंको ग्रहण करनेवाला कहा गया है। नैगम, संग्रह और व्यवहारके भेदसे इसके तीन भेद हैं ॥ ४१ ॥

पर्यायार्थिकनयके भेद और अर्थनय तथा शब्दनयका विभाग

चतुर्धा पर्यायार्थः स्यादृजुशब्दनयाः परे ।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थभेदता ।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ ते शब्दभेदगाः ॥४२॥
(षट्पदम्)

चत्वारोऽर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे ।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता ॥४३॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयके चार भेद है—१ ऋजुसूत्रनय, २ शब्दनय, ३ समभिरूढनय और ४ एवंभूतनय। इन नयोमें उत्तरोत्तर अर्थकी सूक्ष्मता रहती है। अथवा प्रारम्भके चारनय अर्थनय है और आगेके तीन नय शब्द-नय है। इन नयोंमें भी उत्तरोत्तर विषयकी सूक्ष्मता मानी गई है ॥ ४२-४३ ॥

नैगमनयका लक्षण

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः ।
प्रस्थौदनादिजस्तस्य विषयः परिकीर्तितः ॥४४॥

अर्थ—जो नय पदार्थके सकल्पमात्रको ग्रहण करता है वह नैगमनय है। जैसे कोई मनुष्य जंगलको जा रहा था, उससे किसीने पूछा कि—जगल किसलिये जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि—प्रस्थ लाने जा रहा हूँ। प्रस्थ एक परिमाण-का नाम है। जगलमें प्रस्थ नही मिलता है। वहाँसे लकडी लाकर प्रस्थ बनाया जावेगा, परन्तु जगल जानेवाला व्यक्ति उत्तर देता है कि—प्रस्थ लानेके लिये जा रहा हूँ। यहाँ प्रस्थके सकल्पमात्रको ग्रहण करनेसे नैगमनयका वह विषय माना गया है। दूसरा दृष्टान्त ओदनका है। कोई मनुष्य लकड़ी, पानी, आगी आदि एकत्रित कर रहा था। उससे किसीने पूछा—क्या कर रहे हो? उत्तर दिया, ओदन अर्थात् भात बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह भात नहीं बना रहा था, सिर्फ सामग्री एकत्रित कर रहा था तो भी भातका संकल्प होनेसे उसका वह उत्तर नैगमनयका विषय स्वीकृत किया गया है ॥ ४४ ॥

संग्रहनयका लक्षण

[१]भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः ।
समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः ॥४५॥

---

१ 'भेदेऽप्यैक्य' पाठान्तरम् ।

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए भेद द्वारा एकत्वको प्राप्त कर समस्त पदार्थोंका ग्रहण जिससे होता है वह संग्रहनय माना गया है। जैसे सत्, द्रव्य और घट आदि। अर्थात् सत्के कहनेसे समस्त सतोंका ग्रहण होता है, द्रव्यके कहनेसे समस्त द्रव्योका सग्रह होता है और घटके कहनेसे समस्त घटोंका बोध होता है। संग्रहनयमें अवान्तर विशेषताओंको गौण कर सामान्यको विषय किया जाता है ॥ ४५ ॥

व्यवहारनयका लक्षण

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः ॥४६॥

अर्थ—सग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंमें विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे सत्के दो भेद है—द्रव्य और गुण। द्रव्यके दो भेद है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। घटके दो भेद है—पार्थिव (मिट्टीका) और अपार्थिव (मिट्टीसे भिन्न धातुओंसे निर्मित) ॥ ४६ ॥

ऋजुसूत्रनयका लक्षण

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम्।
वर्तमानैकसमयविषयं परिगृह्यते ॥४७॥

अर्थ—जिसके द्वारा वर्तमान एक समयकी पर्याय ग्रहण की जावे उसे ऋजुसूत्रनय कहते है ॥ ४७ ॥

शब्दनयका लक्षण

लिङ्गसाधनसंख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा।
व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः ॥४८॥

अर्थ—जिससे लिङ्ग, साधन, सख्या, काल और उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति होती है वह शब्दनय है। **लिङ्ग-व्यभिचार**—जैसे 'पुष्यः तारका और नक्षत्रम्।' ये भिन्न-भिन्न लिङ्गके शब्द है, इनका मिलाकर प्रयोग करना लिङ्ग-व्यभिचार है। **साधन-व्यभिचार**—जैसे, 'सेना पर्वतमाधिवसति' सेना पर्वत पर है, यहाँ अधिकरण कारकमें सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये, पर 'अधि' उपसर्ग पूर्वक वसधातुका प्रयोग होनेसे द्वितीया विभक्तिका प्रयोग किया गया है। **संख्या-व्यभिचार**—जैसे, 'जल, आपः, वर्षा ऋतु, आम्राः वनम्, वरणाः नगरम्'। यहाँ एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दोंका विशेषण विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है। **कालव्यभिचार**—जैसे, 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' इसका पुत्र

विश्वदृश्वा होगा। जिसने विश्वको देख लिया है वह विश्वदृश्वा कहलाता है यहाँ 'विश्वदृश्वा' इस भूतकालिक कर्ताका 'जनिता' इस भविष्यत्कालिक क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। जैसे—'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति आदि' यहाँ परस्मैपदी 'स्था' धातुका 'सम्' और 'प्र' उपसर्गके कारण आत्मनेपदमें प्रयोग हुआ है तथा 'रम' इस आत्मनेपदी धातुका 'वि' और 'उप' उपसर्गके कारण परस्मैपदमें प्रयोग हुआ है। लोकमें यद्यपि ऐसे प्रयोग होते है तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है॥ ४८॥

समभिरूढनयका लक्षण

ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि।
एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः ॥४९॥

अर्थ—जहाँ शब्द नाना अर्थोंका उल्लङ्घन कर किसी एक अर्थमे रूढ होता है उसे समभिरूढनय जानना चाहिये। जैसे 'गौः' यहाँ गो शब्द, वाणी आदि अर्थोंको गौणकर गाय अर्थमे रूढ हो गया है ॥ ४९ ॥

एवम्भूतनयका लक्षण

शब्दो येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययेत्।
यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमभ्यधुः ॥५०॥

अर्थ—शब्द जिस रूपमें प्रचलित है उसका उसी रूपमें जो नय निश्चय कराता है माननीय मुनि उसे एवम्भूतनय कहते है। जैसे इन्द्र शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ 'इन्दतीति इन्द्र' ऐश्वर्यका अनुभव करनेवाला है इसलिये यह नय इन्द्रको उसी समय इन्द्र कहेगा जब कि वह ऐश्वर्यका अनुभव कर रहा होगा, अभिषेक या पूजन करते समय इन्द्रको इन्द्र नही कहेगा। तात्पर्य यह है कि समभिरूढनय शब्दके वाच्यार्थको ग्रहण करता है और एवभूतनय निरुक्त अर्थको ॥५०॥

नयोंकी परस्पर सापेक्षता

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः।
[1]निरपेक्षाः पुनः सन्तो [2]मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥५१॥

---

१ 'निरपेक्षा नया मिथ्याः, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्'। —**आप्तमीमांसा**

२ य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षा. स्वपरप्रणाशिन.।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥
—**स्वयंभूस्तोत्र**

अर्थ—ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यग्ज्ञानके हेतु होते हैं और निरपेक्ष रहते हैं तो मिथ्याज्ञानके हेतु होते है।

भावार्थ—परस्पर विरोधी नयोंमें जब एकको मुख्य किया जाता है तब दूसरेको गौण किया जाता है इस तरह मुख्य और गौणकी पद्धतिसे उनमें परस्पर सापेक्षता बनी रहती है तथा वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करते समय दूसरे नयको सर्वथा छोड दिया जाता है तब वे नय परस्पर निरपेक्ष हो जाते है और वस्तुका यथार्थ स्वरुप कहनेमे असमर्थ हो जाते है। यही कारण है कि परस्पर सापेक्ष नयोंको सम्यग्ज्ञानका और परस्पर निरपेक्ष नयोको मिथ्याज्ञानका हेतु कहा गया है ॥ ५१ ॥

पदार्थोंको जाननेके उपाय

आर्याछन्द

निर्देशःस्वामित्व साधनमधिकरणमपि च परिचिन्त्यम् ।
स्थितिरथ विधानमिति षट् तत्त्वानामधिगमोपायाः ॥५२॥

अर्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तत्त्वोको जाननेके ये छह उपाय है।

भावार्थ—**निर्देश** वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश कहलाता है।
स्वामित्व—वस्तुके अधिकारको स्वामित्व कहते है।
साधन—वस्तुकी उत्पत्तिके कारणोको साधन कहते है।
अधिकरण—वस्तुके आधारको अधिकरण कहते है।
स्थिति—वस्तुके अस्तित्व-कालको स्थिति कहते है।
विधान—वस्तुके भेदोको विधान कहते है।

किसी नवीन वस्तुके दिखनेपर सबसे पहले देखनेवालेके मनमे यह जिज्ञासा होती है कि यह क्या ह ? इस जिज्ञासाकी पूर्ति करनेवाला निर्देश है। इसके बाद दूसरी जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु किसकी है ?—इसका स्वामी कौन है ? इस जिज्ञासाका समाधान करनेवाला स्वामित्व है। इसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि वस्तु किन साधनोसे बनती है ? इसका उत्तर देनेवाला साधन है। इसके पश्चात् जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु मिलती कहाँ है ? इसका उत्तर देनेवाला अधिकरण है। तदनन्तर जिज्ञासा होती है कि यह वस्तु कितने समय-तक टिकती है—इसकी ग्यारटी क्या है ? इसका उत्तर देनेवाला स्थिति नामका उपाय है और उसके पश्चात् जिज्ञासा होती है कि यह कितने प्रकारका है ? इसका उत्तर देनेवाला विधान है। इस तरह संसारके प्रत्येक पदार्थोंको जाननेके

लिये निर्देश आदि छह उपाय प्रयोगमें लाये जाते है। यहाँ सम्यग्दर्शनके विषयमें इन छह उपायोंको स्पष्ट किया जाता है। जैसे—

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका निर्देश क्या है ?

उत्तर—तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका स्वामी कौन है ?

उत्तर—सामान्यरूपसे सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय चातुर्गतिक भव्य जीवके होता है। विशेषरूपसे गतिकी अपेक्षा नरकगतिमें सभी पृथिवियोके पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन है। प्रथम पृथिवीमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते है। तिर्यञ्चगतिमें पर्याप्तकतिर्यञ्चोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके होते है। तिरश्चियोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता, क्योकि कर्मभूमिज मनुष्यके ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ होता है और क्षपणाके पूर्व तिर्यञ्च आयुका बन्ध करनेवाला मनुष्य भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यञ्चोंमे ही उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यञ्चोंमे नही। नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकतिरश्चियोके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगतिमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्योके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्योके ही होता है अपर्याप्तक मनुष्योके नही। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्योके पर्याप्तक अवस्थामे तीनों होते है परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामे एक भी नही होता। **क्षायिकसम्यग्दर्शन** भाववेदकी अपेक्षा ही होता है द्रव्य-वेदकी अपेक्षा नही। देवगतिमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोमें उत्पन्न होते है। इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्थामें भी औपशमिक सम्यक्त्वका सद्भाव बनता है। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओ तथा सौधर्मैशान स्वर्गकी देवाङ्गनाओके अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी सम्यग्दर्शन नही होता, किन्तु उनके पर्याप्तक अवस्थामें औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका साधन क्या है ?

उत्तर—साधनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्गकी अपेक्षा दो भेद है। सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्गसाधन, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानु-बन्धी, क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। बहिरङ्गसाधन, नरकगतिमे चौथी पृथिवीके पहले अर्थात् तीसरी पृथिवीतक किसीके जातिस्मरण, किसीके धर्मश्रवण और किसीके तीव्रवेदनाका अनुभव है। चौथी पृथिवीसे सातवीं पृथिवीतक जातिस्मरण और तीव्रवेदनाका

अनुभव है। तिर्यञ्चगतिमें किन्हीके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण और किन्हींके जिनबिम्बदर्शन है। मनुष्यगतिमें भी इसी प्रकार तीनों बाह्यसाधन हैं। देवगतिमें आनतस्वर्गके पहले-पहले किन्हीके जातिस्मरण, किन्हीके धर्म-श्रवण, किन्हीके जिनकल्याणकदर्शन और किन्हींके देवर्द्धिदर्शन है। आनत-प्राणत-आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंके देवर्द्धिदर्शनको छोडकर तीन साधन है। नवग्रैवेयकवासी देवोंके किन्हीके जातिस्मरण और किन्हीके धर्मश्रवण साधन है। अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें नियमसे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं इसलिये वहाँ साधनोंकी चर्चा नही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका अधिकरण क्या है ?

उत्तर—अधिकरणके भी बाह्य और आभ्यन्तरकी अपेक्षा दो भेद है। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्धके योग्य आत्मा ही है और बाह्य-अधिकरण एकराजू चौडी तथा चौदहराजू लम्बी लोकनाडी है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी स्थिति क्या है ?

उत्तर—औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठसागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि-अनन्त है परन्तु ससारमे रहनेकी अपेक्षा जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तसहित आठवर्ष कम दो करोडवर्ष पूर्व तथा तेतीससागरकी है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका विधान—भेद क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमजकी अपेक्षा दो भेद होते है। अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिककी अपेक्षा तीन भेद है।

इसी तरह सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा जीव-अजीव तत्त्वोके विषयमे भी निर्देश आदि छह उपायोंकी योजना करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

तत्त्वोंको जाननेके अन्य उपाय

आर्याछन्द

अथ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तराणि भावश्च ।
अल्पबहुत्वं चाष्टावित्यपरेऽप्यधिगमोपायाः ॥५३॥

अर्थ—इसके अनन्तर सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग भी तत्त्वोके जाननेके उपाय है।

भावार्थ—सद् आदि आठ अनुयोगोके द्वारा भी जीवादि तत्त्वोका ज्ञान होता है। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है।

सत्—वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते है।

संख्या—वस्तुकी गणनाको संख्या कहते हैं।

क्षेत्र—वस्तुके वर्तमान निवासको क्षेत्र कहते है।

स्पर्शन—वस्तुके त्रिकाल-सम्बन्धी निवासको स्पर्शन कहते है।

काल—वस्तुके अस्तित्वके समयको काल कहते है।

अन्तर—वस्तुके नष्ट होनेपर पुन. उसकी उत्पत्तिमें जो व्यवधान पड़ता है उसे अन्तर कहते है।

भाव—वस्तुके गुणोंको भाव कहते है। जैसे जीवके औपशमिकादि भाव।

अल्पबहुत्व—वस्तुके भेदोमे हीनाधिकताको अल्पबहुत्व कहते है।

इन आठ अनुयोगोंका गुणस्थान और मार्गणाओकी अपेक्षा विशद वर्णन धवलादि ग्रन्थोंमे देखना चाहिये ॥ ५३ ॥

सप्त तत्त्वोंको जाननेकी प्रेरणा

शालिनी छन्द

सम्यग्योगो मोक्षमार्गं प्रपित्सुर्न्यस्तां नामस्थापनाद्रव्यभावैः ।
स्याद्वादस्थां प्राप्य तैस्तैरुपायैः प्राग्जानीयात्सप्ततत्त्वीं क्रमेण ॥५४॥

अर्थ—मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य, अपने मन-वचन-काय-रूप योगोको ठीक कर नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके द्वारा व्यवहृत तथा स्याद्वाद सिद्धान्तमे निरूपित सात तत्त्वोके समूहको पूर्वोक्त उपायो द्वारा सबसे पहले यथाक्रमसे जाने।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व सम्यग्दर्शनके मूल विषय है। इसलिये मोक्षमार्गमे प्रवेश करनेके इच्छुक मनुष्यको इन सात तत्त्वोंको सबसे पहले अच्छी तरह जान लेना चाहिये। इन सात तत्त्वों-का न्यास अर्थात् व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोके द्वारा होता है तथा उनके जाननेके उपाय प्रमाण, नय, निर्देश तथा सत्, संख्या आदि अनुयोगोके रूपमें ऊपर दिखाये जा चुके है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्यद्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे सात तत्त्वोंका वर्णन करनेवाला पीठिकाबन्ध नामका प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीयाधिकार

जीवतत्त्वनिरूपण

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्तानन्तजीवानामेकैकस्य प्ररूपकान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना जीवतत्त्वं प्ररूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्तानन्त जीवोमेसे एक-एक जीवका निरूपण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे प्रणाम कर जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

जीवका लक्षण

अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः ।
स्वं तत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते ॥ २ ॥

अर्थ—जीवको छोड़कर अन्य द्रव्योंमे नही पाये जाने वाले औपशमिक आदि पाच भाव जिस तत्त्वके **स्वतत्त्व** है वह जीव कहा जाता है ॥ २ ॥

औपशमिकादि पांच भावोंके नाम

स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा ।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकस्तथान्यः पारिणामिकः ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व है ।

भावार्थ—औपशमिकादि भाव जीवके स्वतत्त्व इसलिये कहे जाते है कि ये जीवको छोडकर अन्य द्रव्योमे नही पाये जाते । परन्तु स्वतत्त्व होने मात्रसे ये जीवके लक्षण नही हो सकते, क्योकि लक्षण वही हो सकता है जो समस्त लक्ष्यमे पाया जावे, अलक्ष्यमे न पाया जावे तथा असभव दोषसे रहित हो । औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक भाव सब जीवोमे नही पाये जाते, मात्र पारिणामिक भावोमें जीवत्व नामका पारिणामिक भाव सब जीवोमें पाया जाता है । अब इन भावोंके लक्षण लिखते है—

१ औपशमिक भाव—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके कारण अन्तर्मुहूर्तके लिये कर्मोंकी फल देनेकी शक्तिका प्रकट नही होना उपशम कहलाता है । इस उपशम-के समय जो भाव होता है उसे औपशमिकभाव कहते है ।

२ क्षायोपशमिकभाव—वर्तमानकालमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्द्धकोके निषेकोका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघातिका उदय रहनेपर जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिकभाव कहते है। इसीका दूसरा नाम मिश्रभाव है।

३ **क्षायिकभाव**—आत्मासे कर्मोका सर्वथा दूर होना क्षय कहलाता है। क्षयके समय जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते है।

४ औदयिकभाव—द्रव्यादि निमित्तके वशसे कर्मोका फल प्राप्त होना उदय कहलाता है। उदयके समय जो भाव होता है उसे औदयिकभाव कहते हैं।

५ पारिणामिकभाव—कर्मोके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे निरपेक्ष जीवका जो भाव है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं ॥ ३ ॥

औपशमिकभावके भेद

भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे द्वावौपशमिकस्य हि ।

अर्थ—औपशमिकभावके दो भेद है—१ औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

भावार्थ—उपशम अवस्था सिर्फ मोहनीयकर्ममे होती है। मोहनीय कर्मके दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय। इन दोनो भेदोके उपशमसे दो भाव प्रकट होते है—१ औपशमिकसम्यक्त्व और २ औपशमिकचरित्र। इनके लक्षण इस प्रकार है—

१. औपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे श्रद्धागुणकी जो पर्याय प्रकट होती है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है। औपशमिक सम्यग्दर्शनके दो भेद है—१ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और २ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उपशम श्रेणी चढनेके सन्मुख क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव जब अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना—अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणति करता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थसे ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति सप्तम गुणस्थानमे होती है तथापि उपशम श्रेणीवाला जीव उपरितन गुणस्थानोंसे पतन कर जब नीचे आता है तब चतुर्थादि गुणस्थानोंमें भी इसका सद्भाव रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको जब सम्यग्दर्शन होता है तब सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

२. औपशमिकचारित्र—चारित्रमोहनीयकी समस्त प्रकृतियोंका उपशम होनेपर जो चारित्र प्रकट होता है उसे औपशमिकचारित्र कहते है। यह ग्यारहवें गुणस्थानमे ही होता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद इसका पतन नियमसे हो जाता है।

क्षायोपशमिकभावके भेद

अज्ञानत्रितयं ज्ञानचतुष्कं पञ्चलब्धयः ॥ ४ ॥
देशसंयमसम्यक्त्वे चारित्रं दर्शनत्रयम् ।
क्षायोपशमिकस्यैते भेदा अष्टादशोदिताः ॥ ५ ॥

अर्थ—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय ये चार ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ,; देशसंयम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकचारित्र तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन सब मिलाकर क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद कहे गये है।

भावार्थ—क्षयोपशम अवस्था ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातियाकर्मोकी होती है। इन्ही कर्मोके क्षयोपशमसे ऊपर कहे हुए अठारह भाव प्रकट होते है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

अज्ञानत्रय—मिथ्यात्वके उदयसे दूषित मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, अज्ञानत्रय कहलाते है। इनके नाम कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। दूसरेके उपदेशके बिना विष, यन्त्र, कूट, पञ्जर तथा बन्ध आदिके विषयमे जो प्रवृत्ति होती है उसे कुमतिज्ञान—मत्यज्ञान कहते है। वेद, भारत तथा रामायण आदिके परमार्थशून्य उपदेशको कुश्रुतज्ञान अथवा श्रुताज्ञान कहते है। मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञानको कुअवधिज्ञान अथवा विभङ्गज्ञान कहते है। इसके भवप्रत्यय विभङ्ग और क्षायोपशमिक विभङ्गके भेदसे दो भेद है। भवप्रत्ययविभङ्ग देव और नारकियोके होता है तथा क्षायोपशमिक विभङ्ग मनुष्य और तिर्यञ्चोके होता है। इस विभङ्गके ज्ञान द्वारा दूसरोंके अपकारको जानकर नारकी आदि जीव परस्परकी कलहमे प्रवृत्त होते है।

ज्ञानचतुष्क—सम्यग्दृष्टि जीवके मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान ज्ञानचतुष्क कहलाते है। इनके लक्षण पहले लिखे जा चुके है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन.पर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ये चार ज्ञान प्रकट होते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान चतुर्थसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होते है और मन पर्ययज्ञान षष्ठ गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होता है।

पञ्चलब्धियाँ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ कहलाती हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे ये प्रकट होती है। ये लब्धियाँ मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि दोनोंके होती है।

देशसंयम—अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क तथा सञ्ज्वलनचतुष्कका उदय होनेपर एव हास्य आदि नोकषायोंका यथासम्भव उदय होनेपर जो एकदेशसंयम प्रकट होता है उसे देशसंयम अथवा संयमासंयम कहते है। इस सयममें त्रसहिंसा आदि सूक्ष्म पापोंसे निवृत्ति न होनेके कारण अविरत अवस्था रहती है। यह देशसंयम सिर्फ पञ्चम गुणस्थानमें होता है। इसके दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह अवान्तर भेद होते है।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी-चतुष्क इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमानकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघातिप्रकृतिका उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। यह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। इसीका दूसरा नाम वेदक-सम्यग्दर्शन है।

क्षायोपशमिकचारित्र—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्यख्याना-वरणचतुष्क सम्बन्धी बारह सर्वघाति प्रकृतियोके वर्तमानकालमें उदय आने-वाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम, संज्वलनचतुष्कमेसे किसी एक देशघातिस्पर्द्धकका उदय एव हास्यादि नौ नोकषायोका यथासम्भव उदय रहनेपर जो निवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिकचारित्र कहते हैं। यह चारित्र छठवे गुणस्थानसे लेकर दशवे गुणस्थान तक होता है।

दर्शनत्रय—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शनत्रय कहलाते है। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण तथा अवधिदर्शनावरण इन तीन कर्मप्रकृतियोंके क्षयोपशमसे क्रमश: प्रकट होते हैं। चक्षु इन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानके पहले पदार्थका जो सामान्य अवलोकन होता है उसे चक्षुदर्शन कहते है। चक्षु इन्द्रियके सिवाय शेष इन्द्रियों तथा मनसे होनेवाले ज्ञानके पहले जो सामान्य अवलोकन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते है तथा अवधिज्ञानके पहले होनेवाले सामान्य अवलोकनको अवधिदर्शन कहते हैं। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन

प्रथम गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होते हैं तथा अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होता है ॥ ४–५ ॥

क्षायिकभावके भेद

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यदानानि दर्शनम् ।
भोगोपभोगौ लाभश्च क्षायिकस्य नवोदिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकचारित्र, क्षायिकवीर्य, क्षायिकदान, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकलाभ और क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन) ये नौ क्षायिकभाव कहे गये है ।

भावार्थ—क्षायिकसम्यक्त्व आदि भावोका स्वरूप इस प्रकार है—

१ क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह क्षायिकसम्यक्त्व कहलाता है । यह कर्मभूमिजके ही उत्पन्न होता है । चौथेसे सातवे गुणस्थानके बीचमें कभी भी हो सकता है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है । इसका सद्भाव चारो गतियोंमे पाया जाता है । इस सम्यग्दर्शनका धारक जीव उसी भवमे, तीसरे भवमे अथवा चौथे भवमे नियमसे मोक्ष चला जाता है । संसारमे रहनेकी अपेक्षा यह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तक रहता है उसके बाद सिद्ध अवस्थामे भी अनन्त-काल तक रहता है ।

२ क्षायिकज्ञान—ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे जो ज्ञान प्रकट होता है वह क्षायिकज्ञान कहलाता है । इसे ही केवलज्ञान कहते है । इस ज्ञानका धारक लोक-अलोकके समस्त पदार्थोको एक साथ जानता है । यह तेरहवे-चौदहवे गुणस्थान मे तथा सिद्ध अवस्थामे भी रहता है ।

३ क्षायिकचारित्र—समस्त चारित्रमोहनीयका क्षय होनेपर जो चारित्र प्रकट होता है उसे क्षायिकचरित्र कहते है । यह बारहवे आदि गुणस्थानोंमे होता है । इसे क्षायिक यथाख्यातचारित्र भी कहते हैं ।

४ क्षायिकवीर्य—वीर्यान्तरायकर्मका क्षय होनेपर जो वीर्य प्रकट होता है उसे क्षायिकवीर्य कहते है । यही अनन्त बल कहलाता है ।

५ क्षायिकदान—दानान्तरायकर्मके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिक-दान कहते है । यह अनन्तप्राणियोंके समूहपर अनुग्रह करनेवाले अभयदानरूप होता है ।

६ **क्षायिकभोग**—भोगान्तरायके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिकभोग कहते हैं। इससे पुष्पवृष्टि आदि कार्य होते हैं।

७ **क्षायिकउपभोग**—उपभोगान्तरायके क्षयसे जो प्रकट होता है उसे क्षायिकउपभोग कहते है। इससे सिंहासन, चमर तथा छत्रत्रय आदि विभूति प्राप्त होती है।

८ **क्षायिकलाभ**—लाभान्तरायकर्मके क्षयसे जो प्रकट होता है वह क्षायिकलाभ कहलाता है। इससे शरीरमें बलाधान करनेवाले अनन्त-शुभ-सूक्ष्म-पुद्गल परमाणुओंका सम्बन्ध शरीरके साथ होता रहता है, जिससे आहारके बिना ही देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक शरीर स्थिर रहता है।

९ **क्षायिकदर्शन**—दर्शनावरणकर्मके क्षयसे जो दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायिकदर्शन कहते है। इसीका नाम केवलदर्शन है। यह केवलज्ञानका सहभावी है अर्थात् केवलज्ञानके साथ उत्पन्न होता है तथा उसीके समान तेरहवे, चौदहवें गुणस्थानमे और उसके बाद सिद्धपर्यायमें अनन्तकाल तक रहता है। क्षायिकवीर्य आदि पांच लब्धियाँ भी तेरहवे, चौदहवे गुणस्थानमे तथा उसके बाद सिद्ध अवस्थामे भी रहती है। क्षायिकभावके उक्त नौ भेद नौ लब्धियोके नामसे भी प्रसिद्ध है॥ ६॥

औदयिकभावके भेद

चतस्रो गतयो लेश्याः षट् कषायचतुष्टयम्।
वेदा मिथ्यात्वमज्ञानमसिद्धोऽसंयतस्तथा।
इत्यौदयिकभावस्य स्युर्भेदा एकविंशतिः॥ ७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—चार गतियाँ, छह लेश्याएँ, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यात्व, अज्ञान, असिद्धत्व और असयतत्व ये औदयिकभावके इक्कीस भेद है।

भावार्थ—गति आदिकका स्वरूप इस प्रकार है। **गति**—गतिनामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था विशेष होती है उसे गति कहते है। इसके चार भेद हैं—१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति।

लेश्या—कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसके छह भेद है—१ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और ६ शुक्ल। इन लेश्यावालोंके चिह्न इस प्रकार है—

कृष्णलेश्या—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, किसीसे बुराई होनेपर दीर्घकालतक वैर न छोड़े, बकनेका जिसका स्वभाव हो, धर्म तथा दयासे रहित हो, स्वभावका दुष्ट हो तथा कषायकी तीव्रताके कारण किसीके वशमें न आता हो वह कृष्णलेश्याका धारक है।

नीललेश्या—जो मन्द हो, निर्बुद्धि हो, विवेकसे रहित हो, विषयोंकी तृष्णा अधिक रखता हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, चाहे जिसकी बातोंमें आ जाता हो, निद्रालु हो, दूसरेको ठगनेमें निपुण हो और धन-धान्यमें अधिक लालसा रखता हो वह नीललेश्याका धारक है।

कापोतलेश्या—जो दूसरोंपर रोष करता हो, दूसरोंकी निन्दा करता हो, दूसरोंको दोष लगाता हो, शोक या भय अधिक करता हो, दूसरेसे ईर्ष्या रखता हो, दूसरेका तिरस्कार करता हो, अपनी प्रशसा करता हो, अपने ही समान दगावाज समझकर दूसरेकी प्रतीति नही करता हो, स्तुतिके वचन सुनकर संतुष्ट होता हो, हानि-लाभको नही समझता हो, रणमे मरनेकी इच्छा करता हो, अपनी प्रशसा सुनकर बहुत दान करता हो तथा कार्य और अकार्यको नही समझता हो वह कापोतलेश्याका धारक है।

पीतलेश्या—जो कार्य और अकार्यको समझता हो, सेव्य और असेव्यका विवेक रखता हो, सबके साथ समान व्यवहार रखता हो, दया तथा दानमे तत्पर रहता हो और स्वभावका कोमल हो वह पीतलेश्याका धारक है।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्र परिणामी हो, उत्कृष्ट कार्य करनेवाला हो, बहुत अपराधोको क्षमा कर देता हो तथा साधु एव गुरुओंकी पूजामे तत्पर रहता हो वह पद्मलेश्याका धारक है।

शुक्ललेश्या—जो पक्षपात नही करता हो, निदान नही करता हो, सब जीवोपर समान भाव रखता हो तथा जिसके तीव्र राग, द्वेष और स्नेह न हो वह शुक्ललेश्याका धारक है।

पहलेसे चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्याएँ होती है, पाँचवेसे सातवे तक पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती है और उसके आगे तेरहवे गुणस्थान तक सिर्फ शुक्ललेश्या होती है। चौदहवे गुणस्थानमे कोई भी लेश्या नही होती। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानमे यद्यपि कषायका सद्भाव नही है तो भी भूतपूर्व प्रज्ञापननयकी अपेक्षामात्र योगप्रवृत्तिमे लेश्याका व्यवहार किया जाता है। चौदहवे गुणस्थानमे योगप्रवृत्ति भो नही है, इसलिये वहाँ लेश्याका सद्भाव नही होता।

कषाय—जो आत्माके क्षमा आदि गुणोका घात करे उसे कषाय कहते है। इसके क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार भेद होते हैं।

वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेदके उदयसे जो रमनेका भाव होता है उसे वेद कहते है। इसके तीन भेद है—१ स्त्रीवेद, २ पुरुषवेद और ३ नपु-सकवेद। इन वेदोका सद्भाव नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक रहता है।

मिथ्यात्व—दर्शनमोहके उदयसे जो अतत्त्वश्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते है।

अज्ञान—ज्ञानावरणके उदयसे जो ज्ञान प्रकट नही होता है वह अज्ञान कहलाता है। क्षायोपशमिकभावका अज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे दूषित रहता है और औदयिकभावका अज्ञान अभावरूप होता है। जैसे अवधिज्ञानावरणका उदय होनेसे अवधिज्ञानका अभाव है।

असिद्धत्व—आठों कर्मोंका उदय रहनेसे जीवकी जो सिद्धपर्याय प्रकट नहीं होती वह असिद्धत्वभाव है। इस असिद्धत्वभावका सद्भाव चौदहवे गुणस्थान तक रहता है।

असंयतत्व—चारित्रमोहका उदय होनेसे जो सयमका अभाव है उसे असंयतत्व कहते है। इसका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है ॥ ७ ॥

पारिणामिकभावके भेद

जीवत्वं चापि भव्यत्वमभव्यत्वं तथैव च।
पारिणामिकभावस्य भेदत्रितयमिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—पारिणामिकभावके जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद माने जाते है।

भावार्थ—इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जीवत्वभाव—व्यवहारनयसे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोसे पहले जीवित रहना, वर्तमानमे जीवित रहना और आगे जीवित होना जीवत्वभाव है तथा निश्चयनयसे अपने चैतन्यभावसे युक्त रहना जीवत्वभाव है।

भव्यत्वभाव—जो सम्यग्दर्शनादिगुणोसे युक्त हो सकता है उसे भव्य कहते है तथा उसकी परिणतिको भव्यत्वभाव कहते है।

अभव्यत्वभाव—जो सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त न हो सकता हो उसे अभव्य कहते है तथा उसकी परिणतिको अभव्यत्वभाव कहते है।

जो भव्य है वह सदा भव्य ही रहता है और जो अभव्य है वह सदा अभव्य ही रहता है। अभव्य जीव सदा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ही रहता है। परन्तु भव्यजीव प्रारम्भसे चौदहवे गुणस्थान तक रहता है। मोक्षमे भव्यत्वभाव नही रहता है। अभव्यजीव यद्यपि मोक्षका पात्र नही तथापि मिथ्यात्वकी मन्दतामें मुनिव्रत धारणकर नवम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है ॥ ८ ॥

जीवका लक्षण

अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम् ।
जीवोऽभिव्यज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः ॥ ९ ॥

अर्थ—तादात्म्यभावको प्राप्त उपयोग ही जीवका लक्षण है। आठ कर्मोंसे आच्छादित होनेपर भी जीव उस उपयोगके द्वारा प्रकट होता है—अनुभवमें आता है ॥ ९ ॥

उपयोगके भेद

साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः ।
साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनम् ॥१०॥
कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः ।
साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः ॥११॥
यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम् ।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः ॥१२॥
ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं मतिज्ञानादिभेदतः ।
चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम् ॥१३॥

अर्थ—वह उपयोग साकार (सविकल्पक) और निराकार (निर्विकल्पक) के भेदसे दो प्रकारका है। उनमे ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार। क्योकि ज्ञान वस्तुसमूहको 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूपमे विशेषको करके जानता है इसलिये ज्ञानकी यथार्थताको जाननेवाले मुनियोके द्वारा ज्ञान साकार—सविकल्प माना जाता है और दर्शन विशेषताको न कर सामान्यरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है इसलिये सर्वदर्शी भगवान्‌ने दर्शनको निराकार—निर्विकल्प कहा है। मतिज्ञानादि पाच सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीन मिथ्याज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और चक्षुदर्शन आदिके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना चाहिये ॥ १०–१३ ॥

जीवोंके भेद

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः ।
लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रचक्ष्यते ॥१४॥
सांप्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्तिनः ।
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणादिषु तत्त्वतः ॥१५॥

अर्थ—संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकारके स्मरण किये गये हैं। उनमें मुक्त जीवोंका लक्षण आगे कहा जावेगा। इस समय जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा आदिमें विभाजित ससारी जीवोंका यथार्थ वर्णन किया जाता है॥ १४–१५॥

गुणस्थानोंके नाम

मिथ्यादृक्सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वानिवृत्तिकरणौ तथा ॥१६॥
सूक्ष्मोपशान्तसंक्षीणकषाया योग्ययोगिनौ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥१७॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासन–सासादन, मिश्र, असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकषाय, उपशान्तकषाय क्षीण-कषाय, योगी—सयोगकेवली और अयोगी—अयोगकेवली ये सब मिलाकर चौदह गुणस्थानोंके विकल्प है।

भावार्थ—मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्माके गुणोंके तारतम्य-को गुणस्थान कहते है। वे गुणस्थान मिथ्यादृष्टि आदिके भेदसे चौदह होते है। इनमे प्रारम्भके बारह गुणस्थान मोहसे सम्बद्ध है और अन्तके दो गुणस्थान योगसे॥ १६–१७॥

मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप

मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः।
उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम् ॥१८॥

अर्थ—मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जिसे जीवादि पदार्थोका अश्रद्धान रहता है वह मिथ्यादृष्टिजीव होता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जहाँ जीवको मोक्षमार्गके प्रयोजन-भूत जीवादि पदार्थोका वास्तविक श्रद्धान नही होता वह मिथ्यादृष्टि नामका गुणस्थान है॥ १८॥

सासन–सासादन गुणस्थानका स्वरूप

मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोऽनन्तानुबन्धिनाम्।
उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः ॥१९॥

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका अभाव रहते हुए अनन्तानुबन्धी क्रोध-

मान-माया-लोभमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय आनेसे जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो गया है वह सासादंन गुणस्थानवर्ती जीव कहा गया है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि तीन तथा अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी चार इन सात प्रकृतियोका उपशम कर यह जीव उपशम सम्यग्दृष्टि बनता है। इस उपशम सम्यग्दर्शनका काल अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति पूर्ण होनेके पूर्व जब उपशम सम्यक्त्वका काल कम-से-कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली प्रमाण बाकी रह जाता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभमेसे किसी एकका उदय आ जानेसे जो सम्यक्त्वरूपी रत्नमय पर्वतकी शिखरसे नीचे गिर जाता है परन्तु अभी मिथ्यात्वरूपी भूमिमे नही पहुँच सका है वह सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थानसे नीचे गिरनेपर ही होता है ॥ १९ ॥

मिश्र गुणस्थानका स्वरूप

सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत् ।
मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान् ॥२०॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिश्ररूप परिणाम होनेके कारण जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिश्रगुणस्थानवर्ती होता है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयके तीन भेदोमे एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति नामका भेद है। इस प्रकृतिके उदयसे जीवके ऐसे भाव होते है जिन्हे न मिथ्यात्व-रूप कहा जा सकता है और न सम्यक्त्वरूप। जिस प्रकार दही और गुड़के मिलनेपर ऐसा स्वाद बनता है कि जिसे न खट्टा ही कहा जा सकता है और न मीठा ही। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमे ऐसा भाव होता है कि जिसे न सम्यक्त्व ही कहा जा सकता है और न मिथ्यात्व ही। किन्तु मिश्र-रूप भाव होता है ऐसे मिश्रभावको धारण करनेवाले जीवको मिश्रगुणस्थान-वर्ती कहते है। इस गुणस्थानमे किसी आयुका बन्ध नही होता तथा मरण और मारणान्तिक समुद्धात भी नही होता। मरणका अवसर आनेपर यह जीव या तो चतुर्थ गुणस्थानमें पहुँचकर मरता है या प्रथम गुणस्थानमे आ कर मरता है। यह जीव दूसरे गुणस्थानमे नही आता। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव मिश्र-प्रकृतिका उदय आनेपर इस तृतीय गुणस्थानमे आ जाता है। कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी मिश्र प्रकृतिका उदय आनेपर तृतीय गुणस्थानमे पहुँचता है ॥ २० ॥

असंयत सम्यग्दृष्टिका स्वरूप

वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरतिर्भवेत् ।
जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥२१॥

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे जिसके अविरति—असंयमदशा उत्पन्न हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव असयत सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादित्रिक तथा अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेसे जिसे सम्यक्त्व तो हो गया है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोका उदय रहनेसे जो चारित्र धारण करनेके सम्मुख नही होता वह असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव कहलाता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर प्रथम गुणस्थानसे इसी गुणस्थानमे आता है। यद्यपि इस जीवके इन्द्रियोके विषयोंसे तथा त्रस-स्थावर जीवोंके घातसे निवृत्ति नही है—त्यागरूप परिणति नही है तथापि इसकी परिणति मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा बहुत ही शान्त होती है। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रकट हो जाते है इसलिये मासभक्षण आदि निन्दनोय कार्योमे इसकी प्रवृत्ति नही होती। इस गुणस्थानमे यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयुबन्धका अवसर आता है तो नियमसे वैमानिक देवोकी ही आयुका बन्ध होता है तथा नरक और देवगतिमे आयुबन्धका अवसर आता है तो नियमसे मनुष्यआयुका ही बध होता है॥ २१॥

देशसंयत गुणस्थानका स्वरूप

पाकक्षयात्कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम् ।
विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः ॥२२॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरणकषायोके क्षयोपशमसे जो जीव विरत तथा अविरतदशाको प्राप्त है वह सयतासंयत अथवा देशसयत गुणस्थानवर्ती माना गया है।

भावार्थ—**अ**—एकदेश—**प्रत्याख्यान**—चारित्रको घातनेवाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब इस कषायका क्षयोपशम होता है तब वह एकदेशसंयम धारण करता है। एक देशसयममें त्रसजीवोंकी सकल्पी हिंसा, स्थावरजीवोका निरर्थक घात, स्थूल असत्य, स्थूल चोरी, परस्त्री या परपुरुष-सेवन तथा असीमित परिग्रहसे निवृत्ति हो जाती है। पर त्रसजीवोंकी आरम्भी, विरोधी तथा उद्यमी हिंसा और स्थावरजीवोंका प्रयोजनानुसार घात, अल्प असत्य, सार्वजनिक जल तथा मिट्टी आदिकी चोरी, स्वस्त्री या स्वपुरुष-सेवन तथा सीमित परिग्रहसे निवृत्ति नही होती—इसलिये यह एक ही कालमें विरता-

विरत या संयतासंयत कहलाता है। यह गुणस्थान तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें ही होता है। इस गुणस्थानमे भी नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है। जिस जीवके पहले देवायुको छोड़कर यदि किसी अन्य आयुका बन्ध हो गया हो तो उस जीवके उस पर्यायमें यह गुणस्थान ही नहीं होगा ॥ २२ ॥

प्रमत्तसंयत गुणस्थानका स्वरूप

प्रमत्तसंयतो हि स्यात्प्रत्याख्याननिरोधिनाम् ।
उदयक्षयतः प्राप्ता संयमर्द्धिः प्रमादवान् ॥२३॥

अर्थ—प्रत्याख्यानावरणकषायके क्षयोपशयसे जो संयमरूप संपत्तिको प्राप्त होकर भी प्रमादसे युक्त रहता है वह प्रमत्तसयत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

भावार्थ—प्रत्याख्यान—सकलचारित्रको घातनेवाली कषाय प्रत्याख्यानावरण कहलाती है। जब इस कषायका क्षयोपशम होता है तब मनुष्य सकलचारित्रको ग्रहण करता है—हिंसादि पाँच पापोका सर्वदेश त्याग कर देता है। परन्तु सज्वलनकषायका तीव्रोदय होनेसे प्रमादयुक्त रहता है इसलिये इसे प्रमत्तसंयत कहते है। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियोके विषय, निद्रा और स्नेह ये प्रमादके पन्द्रह भेद है। इनमे कदाचित् मुनिकी प्रवृत्ति होती है इसलिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिको प्रमत्तसयत कहा जाता है। यहाँ प्रमाद उतनी ही मात्रामें होता है जितनी मात्रासे वे अपने गृहीतचरित्रसे पतित नही हो पाते। मुनिव्रत धारण करनेपर सर्वप्रथम सप्तम गुणस्थान होता है। पश्चात् वहाँसे गिरकर जीव छठवे गुणस्थानमे आता है। छठवेंसे चढकर पुनः सातवेंमें जाता है और पुनः वहाँसे गिरकर छठवें गुणस्थानमे आता है। इस तरह यह जीव छठवें-सातवें गुणस्थानकी भूमिकामे हजारो बार चढता तथा उतरता है। यह गुणस्थान तथा इसके आगेके गुणस्थान मनुष्यगतिमे ही होते हैं। द्रव्यवेदकी अपेक्षा पुरुषवेदीके ही यह गुणस्थान होता है परन्तु भाववेदकी अपेक्षा तीनों वेदवालेके हो सकता है। इस गुणस्थानमे यदि आयुबन्धका अवसर आता है तो नियमसे देवायुका ही बध होता है। देवायुको छोड़कर किसी अन्य आयुका बन्ध होनेपर उस जीवके उस पर्यायमे यह गुणस्थान ही नही होगा, ऐसा नियम है ॥ २३ ॥

अप्रमत्तसंयतका स्वरूप

संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात् पूर्ववत्प्राप्तसंयमः ।
प्रमादविरहाद्वृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत् ॥२४॥

अर्थ—जो छठवें गुणस्थानकी तरह संयमको प्राप्त हुआ है तथा प्रमादका

अभाव हो जानेसे अस्खलित—निर्दोष वृत्तिको धारण कर रहा है वह अप्रमत्त-संयत कहलाता है।

भावार्थ—छठवें गुणस्थानकी अपेक्षा इस गुणस्थानमे सञ्ज्वलनका उदय और भी मन्द हो जाता है इसलिये यहाँ प्रमादका अभाव हो जाता है। प्रमादका अभाव हो जानेसे यह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। इस गुणस्थानके दो भेद है— १ स्वस्थान अप्रमत्तसंयत और २ सातिशय अप्रमत्तसंयत। जो सातवेंसे गिरकर छठवेंमें आता है और फिर सातवेंमें चढ़ता है वह स्वस्थान अप्रमत्तसंयत कहलाता है तथा जो श्रेणी माढनेके सन्मुख हो अधःकरण परिणामोंको प्राप्त करता है वह सातिशय अप्रमत्तसयत कहलाता है। जहाँ सम-समयवर्ती तथा भिन्नसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकारके होते है उन्हे अधिकरण कहते है। इस गुणस्थानमे भी नियमसे देवायुका बन्ध होता है ॥ २४ ॥

अपूर्वकरण गुणस्थानका स्वरूप

अपूर्वकरणं कुर्वन्नपूर्वकरणो यतिः।
शमकः क्षपकश्चैव स भवत्युपचारतः ॥२५॥

अर्थ—अपूर्वकरण—नये-नये परिणामोंको करनेवाला मुनि अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यह मुनि उपचारसे शमक और क्षपक दोनों प्रकारका होता है।

भावार्थ—सप्तम गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्तसंयतको जो अधःकरणरूप परिणाम प्राप्त होते थे उनमे आगामी समयवर्ती जीवोके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोके परिणामोसे मिलते-जुलते भी रहते थे, पर अष्टम गुणस्थान-वर्ती जीवके विशुद्धताके बढ़ जानेसे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व—नये-नये ही करण—परिणाम होते है। इस गुणस्थानमे आगामी समयवर्ती जीवोके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोंके परिणामोसे मिलते-जुलते नही है, इसलिये इसका अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है। इस गुणस्थानमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान और असमान दोनो प्रकारके होते है तथा भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम नियमसे भिन्न ही होते है। इस गुणस्थानसे श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम या क्षय करनेके लिये परिणामोकी जो सन्तति होती है उसे श्रेणी कहते है। इसके दो भेद है—उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशमश्रेणीको द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मांढ़ते है परन्तु क्षपकश्रेणीको क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही मांढ़ते है। उपशमश्रेणी-वाले उपशमक और क्षपकश्रेणीवाले क्षपक कहलाते हैं। इसलिये उपचारसे

इस गुणस्थानको भी उपशमक और क्षपक कहा गया है। यहां तथा इसके आगे किसी भी आयुका बन्ध नही होता। क्षपकश्रेणी माढनेवालोके आयुबन्ध होता ही नहीं है और उपशमश्रेणी वे जीव ही माढते है जिन्हें या तो देवायुका बन्ध हो चुका है या किसी आयुका बन्ध नही हुआ है। जिन्हे किसी आयुका बन्ध नही हुआ है वे पतन कर जब सप्तम या इसके नीचेके गुणस्थानोमें आते हैं तब देवायुका बन्ध करते है। जिन जीवोके उसी पर्यायमे उपशमश्रेणीके बाद क्षपकश्रेणी माढनेका प्रसङ्ग आता है वे भी आयुका बन्ध नही करते है ॥ २५ ॥

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका स्वरूप

कर्मणां स्थूलभावेन शमकः क्षपकस्तथा ।
अनिवृत्तिरनिवृत्तिः परिणामवशाद्भवेत् ॥२६॥

अर्थ—जो कर्मोंका स्थूलरूपसे उपशम अथवा क्षय करनेवाला है तथा परिणामोकी अनिवृत्ति—विभिन्नतासे रहित है वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-वाला है।

भावार्थ—दशम गुणस्थानकी अपेक्षा नवम गुणस्थानमे कर्मोका उपशम अथवा क्षय स्थूलरूपसे होता है। तथा इस गुणस्थानवर्ती जीवोके परिणामो-मे विभिन्नता नही रहती। यहाँ एकसमयमे एक जीवके एक ही परिणाम होता है अत. समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान ही रहते और भिन्न समयवर्ती जीवोके परिणाम भिन्न रहते है। अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोसे आयु कर्मको छोडकर शेष सात कर्मोकी गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थितिखण्डन तथा अनुभागकाण्डकखण्डन होता है और मोहनीयकर्मकी बादरकृष्टि तथा सूक्ष्म-कृष्टि आदि होती है। इस गुणस्थानमे भी उपशम और क्षपक दोनो श्रेणियाँ रहती है ॥ २६ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानका स्वरूप

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा ।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः ॥२७॥

अर्थ—जो कषायोके उपशमन अथवा क्षपण करनेके कारण उनकी सूक्ष्मतासे सहित है वह सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थानमें रहने वाला जीव सिर्फ सज्वलनलोभके सूक्ष्म उदयसे युक्त होता है।

भावार्थ—इस गुणस्थानमे उपशमश्रेणीवाला जीव सज्वलन क्रोध-मान-मायाका उपशम कर चुकता है और क्षपकश्रेणीवाला जीव उनका क्षय कर चुकता है, सिर्फ सज्वलनलोभका मंद उदय विद्यमान रहता है इसलिये इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते है ॥ २७ ॥

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानका स्वरूप

उपशान्तकषायः स्यात्सर्वमोहोपशान्तितः ।
भवेत्क्षीणकषायोऽपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात् ।।२८।।

अर्थ—जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका उपशम हो जाता है वह उपशान्तकषाय गुणस्थान है और जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका क्षय हो जाता है वह क्षीणकषाय गुणस्थान कहलाता है ।

भावार्थ—उपशमश्रेणीवाला जीव दशम गुणस्थानके अन्तमें मोहनीयकर्मका जब उपशम कर चुकता है तब वह उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है । इस गुणस्थानमे मोहनीयकर्मके किसी भी भेदका उदय नही रहता । यहाँ जीवके परिणाम, शरदृतुके उस सरोवरके जलके समान जिसकी कि कीचड नीचे बैठ गई है, बिलकुल निर्मल हो जाते है । इस गुणस्थानकी स्थिति सिर्फ अन्तर्मुहूर्तकी है उसके बाद जीव नियमसे गिर जाता है । क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव गिरकर चतुर्थ गुणस्थान तक आ सकता है और उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनसे भी गिरकर प्रथम गुणस्थान तक आ सकता है । क्षपकश्रेणी-वाला जीव दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षयकर बारहवे क्षीणकषाय गुणस्थानमे पहुँचता है । यहाँ कषायका सर्वथा क्षय हो जाता है । इस गुणस्थानमे शुक्लध्यानका दूसरा पाया प्रकट होता है । उसके प्रभावसे जीव शेष बचे हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मोंका तथा नामकर्मकी तेरह प्रवृत्तियोंका क्षय करता है । क्षपकश्रेणीवाले जीवके नवीन आयुका बन्ध होता नही है इसलिये वर्तमान-भुज्यमान मनुष्यायुको छोड़कर शेष तीन आयुकर्मोका क्षय करके अपने आप ही रहता है । इस तरह इस गुणस्थानके अन्तमे त्रेसठ कर्मप्रकृतियोकी सत्ता नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥

सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंका स्वरूप

उत्पन्नकेवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात् ।
सयोगश्चाप्ययोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ ।।२९।।

अर्थ—घातियाकर्मोंका क्षय हो जानेसे जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है किन्तु योग विद्यमान है वह सयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहलाता है और जिसके योगका अभाव हो जाता है वह अयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहा जाता है ।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानके अन्तमें त्रेसठ कर्मप्रकृतियोंका क्षयकर जीव तेरहवे गुणस्थानमे प्रवेश करता है । इसे यहाँ लोकालोकावभासी केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है इसलिये इसे केवली कहते हैं । साथमें योग रहनेके कारण सयोग-

केवली कहलाता है। इस गुणस्थानमें जीव कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड़ वर्ष पूर्व रहता है। इस गुणस्थानके अन्तमें जब सिर्फ सूक्ष्म काययोग रह जाता है तब शुक्लध्यानके तीसरे पायेके प्रभावसे कर्मप्रकृतियोंकी बहुत भारी निर्जरा होती है। उसके बाद जब सूक्ष्म-काययोग भी नष्ट हो जाता है तब अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें प्रवेश होता है। इस गुणस्थानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणकालके बराबर है। यहाँ शुक्लध्यानका चौथा पाया प्रकट होता है— उसके प्रभावसे समस्त कर्मप्रकृतियोंका क्षयकर जीव मोक्षको प्राप्त होता है॥ २९॥

चौदह जीवस्थान—जीवसमासोंका वर्णन

एकाक्षाः बादराः सूक्ष्मा द्व्यक्षाद्या विकलास्त्रयः।
संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चैव द्विधा पञ्चेन्द्रियास्तथा ॥३०॥
पर्याप्ताः सर्व एवैते सर्वेऽपर्याप्तकास्तथा।
जीवस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥३१॥

अर्थ—एकेन्द्रियोंके दो भेद बादर और सूक्ष्म, द्वीन्द्रियको आदि लेकर तीन विकल और संज्ञी-असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके पञ्चेन्द्रिय ये सात प्रकारके सभी जीव पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों प्रकारके होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवस्थानके चौदह विकल्प होते हैं। इन्हें चौदह जीवसमास भी कहते हैं।

भावार्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव और उनकी अनेक जातियाँ जानी जावें उन्हें जीवस्थान या जीवसमास कहते हैं। इन जीवसमासोंका आगममें अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है। इनके ५७ भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतर निगोदके बादर-सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येककी अपेक्षा एक युगल, इन सात युगलोंके चौदह भेदोंमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियके भेदसे त्रसोंके पाँच भेद मिलानेसे उन्नीस स्थान होते हैं। इन उन्नीस स्थानोंके पर्याप्तक, निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन-तीन भेद होनेसे कुल सत्तावन भेद होते हैं। कहीं-पर ९८ भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोदके बादर-सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और सप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक इन सात युगलोंके चौदह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्य-पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके भेदसे तीन-तीन प्रकारके होते हैं, इसलिये एकेन्द्रियोंके

४२ भेद होते हैं। उनमें विकलत्रयोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक तथा लब्ध्य-पर्याप्तककी अपेक्षा नौ भेद मिलानेसे ५१ भेद होते है। इनमें कर्मभूमिज[1] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके ३० और भोगभूमिज[2] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके ४, [3]मनुष्योंके ९, [4]देवोके २ और [5]नारकियोंके २ भेद मिलानेसे सब ९८ जीवसमास होते है ॥ ३०–३१ ॥

छह पर्याप्तियोंके नाम और उनके स्वामी

आहारदेहकरणप्राणापानविभेदतः ।
वचोमनोविभेदाच्च सन्ति पर्याप्तयो हि षट् ॥३२॥
एकाक्षेषु चतस्रः स्युः पूर्वाः शेषेषु पञ्च ताः ।
सर्वा अपि भवन्त्येताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तत् ॥३३॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके भेदसे पर्याप्तियाँ छह है। इनमें एकेन्द्रियोके प्रारम्भकी चार, द्वीन्द्रियसे लेकर असञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रियो तक प्रारम्भकी पाँच और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंके सभी पर्याप्तियाँ होती है।

---

१ कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जलचर, स्थलचर और नभचरके भेदसे तीन प्रकारके है। इनके संज्ञी और असंज्ञी दो भेद होते हैं। इस तरह छह भेद हुए। ये छह भेद गर्भज तथा संमूर्च्छनके भेद दो प्रकारके होते है। गर्भज जीवोके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तकके भेदसे दो भेद होते है तथा संमूर्च्छन जीवोके पर्याप्तक, निर्वृत्य-पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके भेदसे तीन भेद होते है इस तरह गर्भजोके बारह और समूर्च्छनोके अठारह दोनों मिलाकर कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोके ३० भेद होते है।

२ भोगभूमिज तिर्यञ्चोंके स्थलचर और नभचरके भेदसे दो भेद होते है। इनके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा चार भेद होते हैं।

३ आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डके भेदसे कर्मभूमिज मनुष्यके दो भेद है। इनमे आर्यखण्डज मनुष्यके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद तथा म्लेच्छखण्डज मनुष्यके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तकके भेदसे दो इस तरह पाँच भेद होते हैं। भोगभूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्योके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद इस तरह चार भेद मिलानेसे मनुष्योके नौ भेद होते हैं।

४–५ देव और नारकियोके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद होते है।

भावार्थ—आहारादिपर्याप्तियोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ **आहारपर्याप्ति**—विग्रहगतिको पारकर जीव नवीन शरीरकी रचनामें कारणभूत जिस नौकर्मवर्गणाको ग्रहण करता है उसे खल-रसभागरूप परिणमावनेके लिये जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको आहारपर्याप्ति कहते हैं।

२ **शरीरपर्याप्ति**—खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि तरल अवयवरूप परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

३ **इन्द्रियपर्याप्ति**—उसी नोकर्मवर्गणाके स्कन्धमेंसे कुछ वर्गणाओंको अपनी-अपनी इन्द्रियोंके स्थानपर उस-उस इन्द्रियके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको इन्द्रिय-पर्याप्ति कहते हैं।

४ **श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति**—कुछ स्कन्धोंको श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं।

५ **भाषापर्याप्ति**—वचनरूप होनेके योग्य भाषावर्गणाको वचनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं।

६ **मनःपर्याप्ति**—मनोवर्गणाके परमाणुओंको द्रव्यमनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको मनःपर्याप्ति कहते हैं।

उक्त छह पर्याप्तियोंमें एकेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। दो इन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंके भाषापर्याप्ति सहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं तथा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके मनःपर्याप्ति सहित छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। जिन जीवोंकी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं उन्हें पर्याप्तक तथा जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हैं उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं। **अपर्याप्तक जीवोंके** दो भेद हैं— १ निर्वृत्यपर्याप्तक और २ लब्ध्यपर्याप्तक। जिसकी पर्याप्ति अभी पूर्ण नहीं हुई है किन्तु अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे पूर्ण हो जाती है उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं तथा जिसकी पर्याप्ति अभी तक न पूर्ण हुई है और न आगे पूर्ण होगी वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। समस्त पर्याप्तियोंका प्रारम्भ एक-साथ होता है परन्तु पूर्ति क्रम-क्रमसे होती है। सभी पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेका काल अन्तर्मुहूर्त है। लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले जीवोंमें होती है, गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंमें नहीं। इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सिर्फ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही होती है अन्य गुणस्थानोंमें नहीं। निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें जन्मकी अपेक्षा होती है। छठवें गुणस्थानमें आहारशरीरकी अपेक्षा और तेरहवें गुणस्थानमें लोकपूरणसमुद्घातकी अपेक्षा होती है। पर्याप्तक अवस्था सभी

गुणस्थानोंमें होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्तमें छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता है ॥ ३२-३३ ॥

दश प्राणोंके नाम तथा उनके स्वामी

पञ्चेन्द्रियाणि वाक्कायमानसानां बलानि च ।
प्राणापानौ तथायुश्च प्राणाः स्युः प्राणिनां दश ॥३४॥
कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तेष्वान इष्यते ।
वाग्द्व्यक्षादिषु पूर्णेषु मनःपर्याप्तसंज्ञिषु ॥३५॥

अर्थ—स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, वचनबल, कायबल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास और आयु, जीवोंके ये दश प्राण होते हैं। इनमें कायबल, इन्द्रियाँ तथा आयु प्राण सभी जीवोंके होते हैं, **श्वासोच्छ्वास** पर्याप्तक जीवोंके ही होता है, वचनबल द्वीन्द्रियादिक पर्याप्तक जीवोंके होता है और मनोबल संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके ही होता है।

भावार्थ—जिनका सयोग होनेपर जीव जीवित और वियोग होनेपर मृत कहलाता है उन्हे प्राण कहते है। इनके भावप्राण तथा द्रव्यप्राणके भेदसे दो भेद है। आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोको भावप्राण कहते है और इन्द्रियादिकको द्रव्यप्राण कहते है। **द्रव्यप्राणके** ऊपर कहे हुए दश भेद है। इनमेसे एकेन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामे स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामें श्वासोच्छ्वासको छोड़कर तीन प्राण होते है। द्वीन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामें स्पर्शन और रसना इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास और वचनबल ये छह प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामें श्वासोच्छ्वास तथा वचनबलके बिना चार प्राण होते है। त्रीन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामें घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे सात प्राण और अपर्याप्तक अवस्थामे पाच प्राण होते है। चतुरिन्द्रिय जीवके पर्याप्तक अवस्थामें चक्षुरिन्द्रिय बढ़ जानेसे आठ प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामें छह प्राण होते है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक अवस्थामें कर्णेन्द्रिय बढ़ जानेसे नौ प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामें सात प्राण होते है और संज्ञी पञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक अवस्थामें मनोबलके बढ जानेसे दश प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्थामें सात प्राण होते हैं। तेरहवे गुणस्थानमे इन्द्रियों तथा मनका व्यवहार नही रहता इसलिये वचनबल, श्वासोच्छ्वास, आयु और कायबल ये चार ही प्राण होते हैं। इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होनेपर तीन तथा श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेपर दो प्राण रहते हैं। चौदहवे गुणस्थानमें कायबलका भी अभाव हो जाता है इसलिये सिर्फ आयुप्राण रहता है ॥ ३४-३५ ॥

चार संज्ञाओंके नाम

आहारस्य भयस्यापि संज्ञा स्यान्मैथुनस्य च ।
परिग्रहस्य चेत्येवं भवेत्संज्ञा चतुर्विधा ।।३६।।

अर्थ—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञाके भेदसे संज्ञा चार प्रकारकी होती है।

भावार्थ—जिन इच्छाओंके द्वारा पीड़ित हुए जीव इस लोक तथा परलोकमे नाना दु:ख उठाते है उन्हे संज्ञा कहते है। उसके चार भेद है—१ आहार, २ भय, ३ मैथुन और ४ परिग्रह। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आहारसंज्ञा—अन्तरङ्गमे असातावेदनीयकी उदीरणा होनेसे तथा बहिरङ्गमें आहारके देखने और उस ओर उपयोग जानेसे खाली पेटवाले जीवको जो आहारकी इच्छा होती है उसे आहारसंज्ञा कहते है। यह संज्ञा पहले गुणस्थानसे लेकर छठवे गुणस्थान तक रहती है।

भयसंज्ञा—अन्तरङ्गमे भय नोकषायकी उदीरणा होनेसे तथा बहिरङ्गमे अत्यन्त भयकर वस्तुके देखने और उस ओर उपयोग जानेसे शक्तिहीन प्राणीको जो भय उत्पन्न होता है उसे भयसंज्ञा कहते है। यह संज्ञा आठवे गुणस्थान तक होती है।

मैथुनसंज्ञा—अन्तरङ्गमे वेद नोकषायकी उदीरणा होनेसे तथा बहिरङ्गमे कामोत्तेजक गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने, मैथुनकी ओर उपयोग जाने तथा कुशील मनुष्योंकी संगति करनेसे जो मैथुनकी इच्छा होती है उसे मैथुनसंज्ञा कहते है। यह संज्ञा नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक होती है।

परिग्रहसंज्ञा—अन्तरङ्गमे लोभकषायकी उदीरणा होनेसे तथा बहिरङ्गमे उपकरणोंके देखने, परिग्रहकी ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव—ममताभावके होनेसे जो परिग्रहकी इच्छा होती है उसे परिग्रहसंज्ञा कहते है। यह संज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है।

यहा सप्तमादि गुणस्थानोंमे जो भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा बतलाई गई है वे अन्तरङ्गमे उन-उन कर्मोंका उदय विद्यमान रहनेसे बतलाई गई है, कार्यरूपमें उनकी परिणति नही होती ।। ३६ ।।

चौदह मार्गणाओंके नाम

गत्यक्षकाययोगेषु वेदक्रोधादिवित्तिषु ।
वृत्तदर्शनलेश्यासु भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिषु ।
आहारके च जीवानां मार्गणाः स्युश्चतुर्दश ।।३७।।
(षट्पदम्)

अर्थ—१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त्व, १३ सञ्ज्ञी और १४ आहारक जीवोंकी ये चौदह मार्गणाएँ होती है।

भावार्थ—जिनमे अथवा जिनके द्वारा जीवोंकी खोज होती है उन्हे मार्गणा कहते है। मार्गणाओके गति आदि चौदह भेद हैं। आगे ग्रन्थकार स्वयं ही इन मार्गणाओंका वर्णन करते है ॥ ३७ ॥

गतिमार्गणाका स्वरूप और भेद

गतिर्भवति जीवानां गतिकर्मविपाकजा।
श्वभ्रतिर्यग्नरामर्त्यगतिभेदाच्चतुर्विधा ॥३८॥

अर्थ—गति नामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था होती है उसे गति कहते है। इसके चार भेद हैं—१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। इनके लक्षण प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

इन्द्रियमार्गणा और उसके भेद

इन्द्रियं लिङ्गमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत्।
प्रत्येकं तद् द्विधा द्रव्यभावेन्द्रियविकल्पतः ॥३९॥

अर्थ—इन्द्र अर्थात् आत्माका जो लिङ्ग है उसे इन्द्रिय कहते है। इन्द्रियके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके भेदसे पाँच भेद हैं। इन पाँचों इन्द्रियोमें प्रत्येकके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे दो-दो भेद है ॥ ३९ ॥

द्रव्येन्द्रियका निरूपण

निर्वृत्तिश्चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यमनयोरपि ॥४०॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहा गया है। निर्वृत्ति और उपकरण दोनोके बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो-दो भेद होते है ॥ ४० ॥

अन्तरङ्गनिर्वृत्तिका लक्षण

नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्।
विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा ॥४१॥

अर्थ—नेत्रादि इन्द्रियोंके आकारमें अवस्थित विशुद्ध आत्माके प्रदेशोंका जो इन्द्रियाकार परिणमन है उसे आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

बाह्यनिर्वृत्तिका लक्षण

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु ।
नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा ॥४२॥

अर्थ—इन्द्रियव्यपदेशको प्राप्त हुए उन्हीं आत्मप्रदेशोंपर नामकर्मके उदयसे इन्द्रियाकार परिणत जो पुद्गलका प्रचय है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते है ॥ ४२ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य उपकरण

आभ्यन्तरं भवेत्कृष्णशुक्लमण्डलकादिकम् ।
बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिकम् ॥४३॥

अर्थ—काला तथा सफेद गटेना आदि आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रोंकी बरूनी तथा दोनों पलक आदि बाह्य उपकरण हैं ॥ ४३ ॥

भावेन्द्रिय और लब्धिका लक्षण

लब्धिस्तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम् ।
सा लब्धिर्बोधरोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत् ॥४४॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहा है। ज्ञानावरणकर्मका जो क्षयोपशम है वह लब्धि कहलाती है ॥ ४४ ॥

उपयोगका लक्षण और उसके भेद

स द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः ।
कर्मणो ज्ञानरोधस्य क्षयोपशमहेतुकः ॥४५॥
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते ।
ज्ञानदर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः ॥४६॥

अर्थ—जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनाके प्रति व्यापृत होता है ऐसा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला आत्माका परिणाम उपयोग कहलाता है। ज्ञान और दर्शनके भेदसे मूलमे उपयोग दो प्रकार है फिर ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद मिलाकर बारह प्रकारका होता है ॥ ४५–४६ ॥

इन्द्रियोंके नाम और क्रम

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम् ।
इतीन्द्रियाणां पञ्चानां संज्ञानुक्रमनिर्णयः ॥४७॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियोंके नाम तथा उनका क्रम है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

स्पर्शनेन्द्रिय—जो शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, लघु और गुरु इन आठ प्रकारके स्पर्शोंको जाने उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते है।

रसनेन्द्रिय—जो खट्टा, मीठा, कड़ुआ, कषायला और चिरपिरा इन पाँच प्रकारके रसको जाने वह रसनेन्द्रिय है।

घ्राणेन्द्रिय—जो सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे दो प्रकारकी गन्धको जाने उसे घ्राणेन्द्रिय कहते है।

चक्षुरिन्द्रिय—जो काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच मूल रंगोको तथा इनके सम्बन्धसे निर्मित अनेक उपरंगोंको जानती है उसे चक्षु-रिन्द्रिय कहते है।

श्रोत्रेन्द्रिय—जो अक्षरात्मक तथा निरक्षरात्मक शब्दोंको जानती है उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते है॥ ४७॥

पाँच इन्द्रियों तथा मनका विषय

स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दो यथाक्रमम्।
विज्ञेया विषयास्तेषां मनसस्तु मतं श्रुतम् ॥४८॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय जानना चाहिये। मनका विषय श्रुत—अक्षरात्मक श्रुत है॥ ४८॥

इन्द्रियाँ अपने विषयको किस प्रकार ग्रहण करती है?

रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम् ॥४९॥[1]

अर्थ—चक्षु असंस्पृष्ट—दूरवर्ती रूपको देखती है। कान स्पृष्ट—अपनेसे छुए हुए शब्दको सुनता है। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय, बद्ध—अपनेसे संबन्धको प्राप्त तथा स्पृष्ट—छुए हुए अपने-अपने विषयभूत स्पर्श, रस और गन्धको जानती हैं।

भावार्थ—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है इसलिये वह अपनेसे दूरवर्ती रूपको देखती है। कर्णेन्द्रिय प्राप्यकारी होनेके कारण अपनेसे टकराये हुए शब्दको सुनती है। शब्द कानसे टकराकर विलीन हो जाता है, स्पर्श आदिके समान

१ 'पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि॥'
—सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर संस्करण)।

उससे सम्बद्ध नही रहता। परन्तु स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होनेके कारण अपनेसे टकराये हुए तथा टकराकर सम्बद्ध रहनेवाले स्पर्श, रस और गन्धको ग्रहण करती है। यह एक मान्यता है। दूसरी मान्यता यह है कि श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है और अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है। नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती है[1]॥ ४९॥

इन्द्रियोंकी आकृति

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्द्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥५०॥

अर्थ—कर्ण इन्द्रिय जौकी नलीके समान, चक्षु इन्द्रिय मसूरके समान, घ्राण-इन्द्रिय अतिमुक्तक तिलके फूलके समान, जिह्वा इन्द्रिय अर्धचन्द्रके समान और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है॥ ५०॥

इन्द्रियोंके स्वामी

स्थावराणां भवत्येकमेकैकमभिवर्धयेत् ।
शम्बूककुन्थुमधुपमर्त्यादीनां ततः क्रमात् ॥५१॥

अर्थ—स्थावर जीवोके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है फिर शाम्बूक—क्षुद्र शङ्ख, कुन्थु—कानखजूरा, भ्रमर और मनुष्यादिकके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती जाती है॥ ५१॥

एकेन्द्रिय अथवा स्थावरोंके नाम

स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्तेजो वायुर्वनस्पतिः ।
स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि,वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर है तथा अपने-अपने भेदोसे सहित है। ये सभी स्थावर एकेन्द्रिय माने गये है॥ ५२॥

द्वीन्द्रिय जीवोंके नाम

शम्बूकः शङ्खशुक्ती वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिक्रम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥५३॥

---

१ 'पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअं। गधं रस च फासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि॥'
—सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण)।

अर्थ—शम्बूक, शङ्ख, शुक्ति—सीप, गिंडोले, कौंड़ी तथा पेटके कीड़े आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गये हैं ॥५३ ॥

त्रीन्द्रिय जीवोंके नाम

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥५४॥

अर्थ—कुन्थु, चिउटी, कुम्भी (?) बिच्छू, वीरबहूटी, घुनका कीड़ा, खटमल, चीलर-जुँवा आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं ॥५४॥

चतुरिन्द्रिय जीवोंके नाम

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥५५॥

अर्थ—भौंरा, उड़नेवाले कीड़े, डांस, मच्छर, मक्खी, वर्र तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव है ॥ ५५ ॥

पञ्चेन्द्रिय जीवोंके नाम

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः ।
तिर्यञ्चोऽप्युरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः ॥५६॥

अर्थ—मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यञ्च, साँप, फणावाले नाग, सरकनेवाले अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं ॥ ५६ ॥

पृथ्वीकायिक आदि जीवोंका आकार

मसूराम्बुपृषत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः ।
धराप्तेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः ॥५७॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंका आकार क्रमसे मसूर, पानीको बूँद, खड़ी सुइयोंका समूह तथा ध्वजाके समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकारके होते हैं ॥ ५७ ॥

पृथिवीकायिक जीवोंके छत्तीस भेद

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला ।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च ॥५८॥

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिङ्गुलम् ।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥५९॥
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः ।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः ॥६०॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः ।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥६१॥
मोठो मसारगल्लश्च सर्वे एते प्रदर्शिताः ।
षट्त्रिंशत्पृथिवीभेदा भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥६२॥

अर्थ— १ मिट्टी, २ रेत, ३ चुनककरी, ४ पत्थर, ५ शिलाएँ, ६ नमक, ७ लोहा, ८ ताँबा, ९ रांगा, १० सीसा, ११ चाँदी, १२ सोना, १३ हीरा, १४ हरताल, १५ ईगुर, १६ मैनसिल, १७ तूतिया, १८ सुरमा, १९ मूँगा, २० क्रिरोलक (?), २१ भोडल, बड़ी-बड़ी मणियोंके खण्ड, २२ गोमेद, २३ रुचकाङ्क, २४ स्फटिक, २५ पद्मराग, २६ वैडूर्य, २७ चन्द्रकान्त, २८ जलकान्त, २९ सूर्यकान्त, ३० गैरिक, ३१ चन्दन, ३२ वर्चूर, ३३ रुचक, ३४ मोठ, ३५ मसार और ३६ गल्ल नामक मणि ये सब पृथिवीकायिकके छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान्ने कहे है ॥ ५८–६२ ॥

जलकायिक जीवोंके भेद

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके ।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ॥६३॥

अर्थ—ओस, बर्फके कण, शुद्धोदक—चन्द्रकान्तमणिसे निकला पानी, मेघसे तत्काल वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जाननेके योग्य हैं ॥ ६३ ॥

अग्निकायिक जीवोंके भेद

ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च ।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ॥६४॥

अर्थ—ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि–अग्निकी किरण, मुर्मुर—अग्निकण (भस्मके भीतर छिपे हुए अग्निके छोटे-छोटे कण) और शुद्ध अग्नि—सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जाननेके योग्य है ॥ ६४ ॥

वायुकायिक जीवोंके भेद

महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः ।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥६५॥

अर्थ—वृक्ष वगैरहको उखाड़ देनेवाली महान् वायु अर्थात् आँधी, घनवात, तनुवात, गुञ्जा—गूँजनेवाली वायु, मण्डलि—गोलाकार वायु, उत्कलि—तिरछी बहनेवाली वायु और वात—सामान्य वायु ये सब पवनकायिक जीव जाननेके योग्य है ॥ ६५ ॥

वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा ।
संमूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥६६॥

अर्थ—मूलबीज—मूलसे उत्पन्न होनेवाले अदरख, हल्दी आदि. अग्रबीज—कलमसे उत्पन्न होनेवाले गुलाब आदि, पर्वबीज—पर्वसे उत्पन्न होनेवाले गन्ना आदि, कन्दबीज—कन्दसे उत्पन्न होनेवाले सूरण आदि, स्कन्धबीज—स्कन्धसे उत्पन्न होनेवाले ढाक आदि, बीजरूह—बीजसे उत्पन्न होनेवाले गेहूँ, चना आदि तथा समूर्च्छिन्—अपने आप उत्पन्न होनेवाली घास आदि वनस्पतिकाय प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकारके होते है ॥ ६६ ॥

योगका लक्षण

सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे ।
योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते ॥६७॥

अर्थ—वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेपर आत्मप्रदेशोका हलन-चलन होना योग कहलाता है ॥ ६७ ॥

योगके पन्द्रह भेद

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम् ।
काययोगाश्च सप्तैव योगाः पञ्चदशोदिताः ॥६८॥

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये है ॥ ६८ ॥

मनोयोगके चार भेद

मनोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा ।
तथाऽसत्यमृषा चेति मनोयोगश्चतुर्विधः ॥६९॥

अर्थ—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग ये मनोयोगके चार भेद है ॥ ६९ ॥

वचनयोगके चार भेद

वचोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा ।
तथाऽसत्यमृषा चेति वचोयोगश्चतुर्विधः ॥७०॥

अर्थ—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग ये वचनयोगके चार भेद है ।

भावार्थ—सत्यवचनयोग आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते है, जैसे—जलको जल कहना । मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको असत्य कहते है, जैसे—मृगतृष्णाको जल कहना । दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते है, जैसे—कमण्डलुको घट कहना । कमण्डलुसे घटका काम लिया जा सकता है इसलिये सत्य है और कमण्डलुका आकार घटसे भिन्न है इसलिये असत्य है । जो दोनो ही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसे अनुभय कहते हैं; जैसे—सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि 'यह कुछ है' । यहाँ सत्य-असत्यका कुछ भी निर्णय नही होता इसलिये अनुभय है । इन चार प्रकारके वचनोसे आत्माके प्रदेशोमें जो हलन-चलन होता है वह सत्यवचनयोग आदि कहलाता है ॥ ७० ॥

काययोगके सात भेद

औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्च ते ।
मिश्राश्च कार्मणं चैव काययोगोऽपि सप्तधा ॥७१॥

अर्थ—औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण इस तरह काययोग भी सात प्रकारका होता है ।

भावार्थ—मनुष्य और तिर्यञ्चोके उत्पत्तिके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे औदारिकमिश्र काययोग होता है । उसके बाद जीवनपर्यन्त औदारिक काययोग होता है । देव और नारकियोके उत्पत्तिके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे वैक्रियिकमिश्र काययोग होता है। उसके बाद जीवनपर्यन्त वैक्रियिक काययोग होता है । छठवे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका पुतला निकलनेके पहले आहारकमिश्र काययोग होता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक आहारक काययोग रहता है । विग्रहगतिमें सभी जीवोके कार्मण काययोग होता है । तेरहवे गुणस्थानमे केवलिसमुद्घातके समय दण्डभेदमे औदारिक काययोग, कपाटमे औदारिकमिश्र काययोग और

प्रतर तथा लोकपूरणमें कार्मण काययोग होता है। तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमें परिस्पन्द नहीं होता, इसलिये तैजसयोग नहीं माना गया है॥ ७१॥

औदारिक शरीरोंकी सूक्ष्मता और प्रदेशोंका वर्णन

औदारिको वैक्रियिकस्तथाहारक एव च।
तैजसः कार्मणश्चैवं सूक्ष्माः सन्ति यथोत्तरम् ॥७२॥
असंख्येयगुणौ स्यातामाद्यादन्यौ प्रदेशतः।
यथोत्तरं तथानन्तगुणौ तैजसकार्मणौ ॥७३॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर आगे-आगे सूक्ष्म-सूक्ष्म है अर्थात् औदारिक शरीरकी अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक, आहारककी अपेक्षा तैजस और तैजसकी अपेक्षा कार्मणशरीर सूक्ष्म है। प्रदेशोंकी अपेक्षा औदारिकशरीरसे लेकर वैक्रियिक और आहारक असख्यातगुणे है और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे है अर्थात् औदारिकशरीरके जितने प्रदेश है उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियिकके है, वैक्रियिकके जितने प्रदेश है उनसे असंख्यातगुणे आहारकके है, आहारकसे अनन्तगुणे तैजसके और उनसे अनन्तगुणे कार्मणशरीरके है ॥७२–७३॥

तैजस और कार्मणशरीरकी विशेषता

उभौ निरुपभोगौ तौ प्रतिघातविवर्जितौ।
सर्वस्यानादिसम्बन्धौ स्यातां तैजसकार्मणौ ॥७४॥
तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ क्वचिदौदारिकाधिकौ।
क्वचिद्वैक्रियिकोपेतौ तृतीयाद्ययुतौ क्वचित् ॥७५॥

अर्थ—तैजस और कार्मणशरीर उपभोग—इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहणसे रहित है, प्रतिघात—रुकावटसे रहित है और सामान्यकी अपेक्षा सब जीवोंके साथ अनादि सम्बन्ध रखनेवाले हैं। तैजस और कार्मण ये दो शरीर कही तो शुद्ध—अर्थात् अन्य शरीरोंसे रहित होते है, कही औदारिक शरीरसे अधिक होते है, कहीं वैक्रियिकशरीरसे अधिक होते है और कहीं आहारकशरीरसे अधिक होते है।

भावार्थ—विग्रहगतिमें मात्र तैजस और कार्मण ये दो शरीर रहते है, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें तैजस-कार्मणशरीर औदारिकशरीरके साथ रहते हैं, देव

और नरकगतिमें वैक्रियिकके साथ रहते हैं तथा छठवे गुणस्थानवर्ती किसी मुनिके पुतला अवस्थामे आहारक शरीरके साथ रहते है ॥७४–७५ ॥

लब्धिप्रत्यय तैजस और वैक्रियिकशरीरका वर्णन

औदारिकशरीरस्थं लब्धिप्रत्ययमिष्यते ।
अन्यादृक् तैजसं साधोर्वपुर्वैक्रियिकं तथा ॥७६॥

अर्थ—औदारिकशरीरसे युक्त किसी मुनिके लब्धिप्रत्यय ऋद्धि विशेषसे उत्पन्न होनेवाला एक अन्य प्रकारका तैजस तथा वैक्रियिकशरीर माना जाता है।

भावार्थ—लब्धिप्रत्यय तैजसके दो भेद है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। शुभ तैजस चन्द्रमाके समान सफेद रङ्गका होता है तथा मुनिके दाहिने कन्धेसे निकलता है। इसके प्रभावसे बारह योजन तक रोग आदि नष्ट हो जाते है। अशुभ तैजस सिन्दूरके समान लाल रङ्गका होता है। यह मुनिके बॉये कन्धेसे निकलता है तथा बारह योजन तकके क्षेत्रको भस्म कर देता है। मुनि भी भस्म होकर दुर्गतिमें जाते है। तैजसशरीरके समान किन्ही-किन्हो मुनिके वैक्रियिकशरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है। इसे विक्रियाऋद्धि कहते है ॥ ७६ ॥

औदारिक और वैक्रियिकशरीरकी उत्पत्तिका वर्णन

औदारिकं शरीरं स्याद्गर्भसम्मूर्च्छनोद्भवम् ।
तथा वैक्रियिकाख्यं तु जानीयादौपपादिकम् ॥७७॥

अर्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है तथा वैक्रियिकशरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता है। अथवा गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसे औदारिक शरीर कहते है तथा उपपाद जन्मसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसे वैक्रियिकशरीर कहते है ॥ ७७ ॥

आहारकशरीरका लक्षण

अव्याघाती शुभः शुद्धः प्राप्तर्द्धेर्यः प्रजायते ।
संयतस्य प्रमत्तस्य स खल्वाहारकः स्मृतः ॥७८॥

अर्थ—ऋद्धिधारक प्रमत्तसयत मुनिके जो व्याघातसे रहित, शुभ तथा शुद्ध पुतला निकलता है वह आहारकशरीर माना गया है ॥ ७८ ॥

वेदमार्गणाका वर्णन

भाववेदस्त्रिभेदः स्यान्नोकषायविपाकजः ।
नामोदयनिमित्तस्तु द्रव्यवेदः स च त्रिधा ॥७९॥

द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः श्वाभ्राः सम्मूर्च्छिनस्तथा ।
पल्यायुषो न देवाश्च त्रिवेदा इतरे पुनः ॥८०॥
उत्पादः खलु देवीनामैशानं यावदिष्यते ।
गमनं त्वच्युतं यावत् पुंवेदा हि ततः परम् ॥८१॥

अर्थ—नोकषायके उदयसे उत्पन्न होनेवाला भाववेद स्त्री पुरुष और नपुंसकके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी प्रकार नामकर्मके उदयसे होनेवाला द्रव्यवेद भी तीन प्रकारका है। नारकी तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्यवेदकी अपेक्षा नपुंसक होते है। भोगभूमिज मनुष्य तिर्यञ्च तथा देव नपुसक नही होते अर्थात् स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं। शेष मनुष्य और तिर्यञ्च तीनों वेदवाले होते हैं अर्थात् तीन वेदोमेसे किसी एक वेदके धारक होते है। देवियोंका उत्पाद ऐशान स्वर्ग तक होता है परन्तु उनका गमन अच्युत स्वर्ग तक होता है। इस दृष्टिसे अच्युत स्वर्ग तक पुरुषवेद और स्त्रीवेद ये दो वेद पाये जाते है। उसके आगे सब देव पुरुषवेदी ही होते हैं।

भावार्थ—भाववेद और द्रव्यवेदकी अपेक्षा वेदके दो भेद है। इनमे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद नामक नोकषायके उदयसे जो रमणकी इच्छा होती है वह भाववेद कहलाता है। इसके स्त्री, पुरुष और नपुंसक इस तरह तीन भेद है। तथा अङ्गोपाङ्ग नामक नामकर्मके उदयसे शरीरके अगोकी जो रचना होती है उसे द्रव्यवेद कहते है। इसके भी स्त्री, पुरुष और नपुसक इस तरह तीन भेद है। देव, नारकी और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च इनके जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है अर्थात् इनके दोनो वेदोमें समानता रहती है परन्तु शेष जीवोमें समानता और असमानता दोनो होती है अर्थात् द्रव्यवेद और भाववेद भिन्न-भिन्न होते है। यह वेदोकी विभिन्नता जीवनव्यापिनी होती है। क्रोधादि कषायोंकी तरह अन्तर्मुहूर्तमें परिवर्तित नहीं होती है। ऐसे मनुष्य भी जिनके द्रव्यवेद पुरुष और भाववेद स्त्री अथवा नपुसक है मुनिदीक्षा धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं परन्तु जिनके द्रव्यवेद स्त्री अथवा नपुंसक है और भाववेद पुरुष है वे मुनिदीक्षा धारण नही कर सकते। ऐसे जीवोंके पञ्चम गुणस्थान तक ही होता है। भाववेदका सम्बन्ध नवम गुणस्थानके पूर्वार्ध तक ही रहता है उसके आगे अवेद अवस्था होती है ॥ ७९–८१ ॥

कषायमार्गणाका वर्णन

चारित्रपरिणामानां कषायः कषणान्मतः ।
क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधः ॥८२॥

अर्थ—जो चारित्ररूप परिणामोंको कषे-घाते उसे कषाय कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी है।

भावार्थ—संक्षेपमे कषायके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं परन्तु विशेषताकी अपेक्षा ये चारों कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनके भेदसे चार-चार प्रकारकी होती है।[1] जो सम्यक्त्वरूप परिणामोका घात करती है उसे अनन्तानुबन्धी कहते है, जो एकदेश चारित्रको न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते है, जिसके उदयसे सकलचारित्र न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जो यथाख्यातचारित्रको प्रकट न होने दे उसे सज्वलन कहते है। अनन्तानुबन्धी कषायका उदय दूसरे गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरणका उदय चौथे गुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरणका उदय पाँचवे गुणस्थान तक और सज्वलनका उदय दशवें गुणस्थान तक चलता है। उसके आगे ग्यारहवे गुणस्थानमें कषायोका उपशम रहता है और बारहवें आदि गुणस्थानोमें क्षय रहता है। इन सोलह कषायोके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय भी है। हास्य, रति आदिके भाव, क्रोधादिके समान चारित्रगुणका पूर्णघात नही कर पाते इसलिये इन्हे नोकषाय-किंचित कषाय कहते है। इनका उदय यथासभव नवम गुणस्थान तक रहता है॥ ८२॥

ज्ञानमार्गणाका वर्णन

तत्त्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं पञ्चविधं भवेत्।
मिथ्यात्वपाककलुषमज्ञानं त्रिविधं पुनः॥८३॥

अर्थ—जीवादि तत्त्वोका यथार्थ बोध होना ज्ञान कहलाता है। यह मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवलके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। जो ज्ञान मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे कलुषित रहता है उसे अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहते है। इसके मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्गके भेदसे तीन भेद होते है। इस तरह कुल मिलाकर ज्ञानमार्गणाके आठ भेद है॥ ८३॥

संयममार्गणाका वर्णन

संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः।
प्राणस्य परिहारः स्यात् पञ्चधा स च वक्ष्यते॥८४॥

---

१ पढमादिया कसाया सम्मत्तं देशसयलचारित्तं।
जहखादं घादति य गुणणामा होंति सेसा वि॥ ४५॥—**कर्मकाण्ड**
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा॥ २८२॥—**जीवकाण्ड**

विरताविरतत्वेन संयमासंयमः स्मृतः ।
प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः ॥८५॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम आदिके द्वारा प्राणघातका परित्याग होता है वह निश्चयसे संयम कहलाता है । यह सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारका कहा जावेगा । एक ही साथ विरत और अविरत अवस्था होनेसे सयमासयम होता है तथा प्राणिघात और इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति होनेसे असयम होता है ।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे आत्मा में जो विशुद्धता प्रकट होती है उसे संयम कहते है । यह सयम, सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकारका होता है तथा छठवें गुणस्थानसे प्राप्त होता है । सामायिक और छेदोपस्थापना छठवेंसे नौवे गुणस्थान तक रहते है, परिहारविशुद्धि छठवें और सातवे गुणस्थानमें होता है सूक्ष्म सापराय सिर्फ छठवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यात ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें होता है । इन पाँच संयमोंके सिवाय संयममार्गणाके सयमासंयम और असंयम ये दो भेद और भी है । संयमासयम पञ्चम गुणस्थानमें होता है और असंयम प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है । सामायिक आदि संयमोंके लक्षण सवरके प्रकरणमें कहे जावेंगे ॥ ८४–८५ ॥

दर्शनमार्गणाका वर्णन

दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ ।
आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम् ॥८६॥
चक्षुर्दर्शनमेकं स्यादचक्षुर्दर्शनं तथा ।
अवधिर्दर्शनं चैव तथा केवलदर्शनम् ॥८७॥

अर्थ—दर्शनावरणकर्मका क्षयोपशम (और क्षय) होनेपर जो पदार्थोंका सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते है । यह चार प्रकारका है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

भावार्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दशनावरण और अवधिदर्शनावरण इन तीन प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर क्रमसे चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन तथा अवधिदर्शन प्रकट होते हैं और केवलदर्शनावरणका क्षय होनेपर केवलदर्शन प्रकट होता है । इनके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं ॥ ८६–८७ ॥

लेश्यामार्गणाका वर्णन

योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या कषायोदयरञ्जिता ।
भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृताङ्गरुक् ॥८८॥

कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथैव च।
शुक्ला चेति भवत्येषा द्विविधापि हि षड्विधा ॥८९॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा कषायके उदयसे रँगी हुई योगवृत्ति लेश्या कहलाती है और द्रव्यकी अपेक्षा शरीर-नामकर्मके उदयसे निर्मित शरीरकी कान्ति लेश्या कहलाती है। यह दोनों प्रकारकी लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी होती है। कृष्णादि लेश्याओके लक्षण पहले कहे जा चुके है ॥ ८८-८९ ॥

भव्यत्वमार्गणाका वर्णन

भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः।
भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युर्विपरीतास्तथापरे ॥९०॥

अर्थ—भव्य और अभव्यके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। जो सिद्धपर्याय प्राप्त करनेके योग्य है वे भव्य कहलाते है और जो इनसे विपरीत है वे अभव्य कहे जाते है ॥ ९० ॥

सम्यक्त्वमार्गणाका वर्णन

सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्त्रिधा भवेत्।
स्यात्सासादनसम्यक्त्वं पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥९१॥
सम्यग्मिथ्यात्वपाकेन सम्यग्मिथ्यात्वमिष्यते।
मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः ॥९२॥

अर्थ—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे वह सम्यक्त्व तीन प्रकारका होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे सासादनसम्यक्त्व होता है। सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यात्व होता है तथा मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व होता है। इस तरह सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद है। इनके लक्षण पहले कहे जा चुके है। मिथ्यात्व पहले गुणस्थानमें, सासादन दूसरे गुणस्थानमें, सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थानमें, औपशमिकसम्यग्दर्शन चौथेसे ग्यारहवें गुणस्थान तक, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन चौथेसे सातवें तक और क्षायिकसम्यग्दर्शन चौथेसे चौदहवे तक तथा सिद्धपर्यायमें भी रहता है ॥ ९१-९२ ॥

संज्ञीमार्गणाका वर्णन

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः ॥९३॥

अर्थ—जो जीव शिक्षा, क्रिया तथा आत्माके प्रयोजनको ग्रहण करता है वह संज्ञी कहलाता है। इससे जो विपरीत है उसे जिनेन्द्र भगवानने असज्ञी कहा है। इस तरह सज्ञी और असंज्ञीके भेदसे संज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं।

भावार्थ—असंज्ञी जीवके सिर्फ प्रथम गुणस्थान रहता है और संज्ञी जीवके पहलेसे लेकर बारह तक गुणस्थान होते है। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थानमे रहनेवाला जीव न सज्ञी है और न असज्ञी है ॥ ९३ ॥

आहारमार्गणाका वर्णन

गृह्णाति देहपर्याप्तियोग्यान् यः खलु पुद्गलान् ।
आहारकः स विज्ञेयस्ततोऽनाहारकोऽन्यथा ॥९४॥

अर्थ—जो औदारिकादि शरीर तथा पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है उसे आहारक जानना चाहिये और जो इससे विपरीत है उसे अनाहारक समझना चाहिए ॥ ९४ ॥

अनाहारक कौन होते हैं ?

अस्त्यनाहारकोऽयोगः समुद्घातगतः परः ।
सासनो विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिस्तथाव्रतः ॥९५॥

अर्थ—अयोगकेवली, लोकपूरण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, तथा विग्रहगतिमे स्थित मिथ्यादृष्टि; सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अनाहारक होते है ॥ ९५ ॥

विग्रहगतिका लक्षण और उसकी विशेषता

विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत् ।
विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥९६॥
जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः ।
प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणम् ॥९७॥
जीवानां पञ्चताकाले यो भवान्तरसंक्रमः ।
मुक्तानां चोर्द्ध्वगमनमनुश्रेणिगतिस्तयोः ॥९८॥
सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा ।
अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः ॥९९॥

अविग्रहैकसमया कथितेषु गतिर्जिनैः ।
अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥१००॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लाङ्गलिकां जिनाः ।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात्त्रिविग्रहा ॥१०१॥
समयं पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम् ।
तथा गोमूत्रिकायां त्रीननाहारक इष्यते ॥१०२॥

अर्थ—निश्चयसे विग्रहका अर्थ शरीर है। जिसका पूर्व शरीर नष्ट हो गया है ऐसे जीवकी नवीन शरीरके लिये जो गति (गमन) होती है वह विग्रहगति मानी गई है। जिनेन्द्र भगवान्ने विग्रहगतिमें जीवके कार्मण काययोग कहा है। यह कार्मण काययोग ही अन्य शरीरकी प्राप्ति तथा नवीन कर्म ग्रहणका कारण है। मृत्यु होनेपर जीवोका जो अन्य भवमे गमन होता है तथा मुक्त जीवोका जो ऊर्ध्वगमन होता है उन दोनोमे जीवोकी गति श्रेणीके अनुसार ही होती है। सविग्रहा—मोड सहित और अविग्रहा—मोड रहितके भेद से वह विग्रहगति दो प्रकारकी होती है। मुक्त जीवकी गति अविग्रहा—मोड रहित ही होती है। शेष जीवोंकी गतिका कोई नियम नही है अर्थात् उनकी गति दोनो प्रकारकी होती है। जिस गतिमे विग्रह-मोड नही होता उसमे एक समय लगता है तथा जिनेन्द्र भगवान्ने उसका इषुगति नाम कहा है। जिसमे एक मोड लेना पडता है उसमे दो समय लगते है तथा इसका पाणिमुक्ता नाम है। जिसमे दो मोड़ लेना पडते है उसमे तीन समय लगते है तथा उसे जिनेन्द्र भगवान् लाङ्गलिका-गति कहते है। जिसमे तीन मोड लेना पडते है उसमे चार समय लगते है और उसे गोमूत्रिका कहते है। पाणिमुक्तागतिमे जीव एक समय तक, लाङ्गलिका-गतिमे दो समय तक और गोमूत्रिकागतिमे तीन समय तक अनाहारक रहता है। इषुगतिमे जीव अनाहारक नही होता ॥ ९६–१०२ ॥

जन्मके भेद और उनके स्वामी

त्रिविधं जन्म जीवानां सर्वज्ञैः परिभाषितम् ।
सम्मूर्च्छनात्तथा गर्भादुपपादात्तथैव च ॥१०३॥
भवन्ति गर्भजन्मानः पोताण्डजजरायुजाः ।
तथोपपादजन्मानो नारकास्त्रिदिवौकसः ॥१०४॥
स्युः सम्मूर्च्छनजन्मानः परिशिष्टास्तथापरे ।

अर्थ—*सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपादके भेदसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने जीवोंका जन्म तीन प्रकारका कहा है। पोत, अण्डज और जरायुज जीव गर्भजन्म वाले हैं, नारकी और देव उपपाद जन्मवाले हैं और शेष जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले है।

भावार्थ—सम्मूर्च्छनादि जन्मोंके लक्षण इस प्रकार है। -

सम्मूर्च्छन जन्म—इधर-उधरके परमाणुओके मिलनेसे जो जन्म होता है उसे सम्मूर्च्छन जन्म क ्ते हैं।

गर्भजन्म—रतिक्रियाके बाद स्त्री-पुरुषके रज और वीर्यके सयोगसे जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते है।

उपपादजन्म—निश्चित उपपाद शय्याओ पर जो जन्म होता है उसे उपपाद जन्म कहते है।

जिनके शरीरके साथ गर्भमे कोई थैली आदिका आवरण नही रहता तथा उत्पन्न होते ही जो चलने लगते है ऐसे सिह, व्याघ्र आदि जीव पोत कहलाते है। अण्डेसे जिनका जन्म होता है ऐसे पक्षी अण्डज कहलाते है। जिनके शरीरके साथ एक प्रकारकी मासकी थैलीका आवरण रहता है ऐसे मनुष्य तथा गाय भैस आदि जरायुज कहलाते है। इन तीनों प्रकारके जीवोके गर्भजन्म होता है। देव ओर नारकियों की उपपाद शय्याएँ निश्चित है उनपर आत्माके प्रदेश जब पहुँचते है तब अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण शरीरकी रचना अपने आप हो जाती है। इनके सिवाय अन्य जितने जीव है उन सबका समूर्च्छन जन्म होता है ॥ १०३–१०४ ॥

नौ योनियों तथा उनके स्वामियोंका वर्णन

योनयो नव निर्दिष्टास्त्रिविधस्यापि जन्मनः ॥१०५॥
सचित्तशीतविवृता अचित्ताशीतसंवृताः ।
सचित्ताचित्तशीतोष्णौ तथा विवृतसंवृतः ॥१०६॥
योनिर्नारकदेवानामचित्तः कथितो जिनैः ।
गर्भजानां पुनर्मिश्रः शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥१०७॥
उष्णः शीतश्च देवानां नारकाणां च कीर्तितः ।
उष्णोऽग्निकायिकानां तु शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥१०८॥
नारकैकाक्षदेवानां योनिर्भवति संवृतः ।
विवृतो विकलाक्षाणां मिश्रः स्याद्गर्भजन्मनाम् ॥१०९॥

अर्थ—उक्त तीनो प्रकारके जन्मोंकी सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, विवृत, संवृत और विवृतसवृत ये नौ योनियां कही गई हैं। जिनेन्द्र भगवान्‌ने नारको और देवोकी अचित्त योनि कही है। गर्भजन्मवालोंकी सचित्ताचित्त योनि तथा शेष जीवों की तीनो प्रकारकी अर्थात् किसीकी सचित्त, किसीकी अचित्त और किसीकी सचित्ताचित्त योनि बतलाई है। देव-नारकियोंमें किन्ही की शीत तथा किन्ही की उष्ण योनि, अग्निकायिक जीवोंकी उष्ण योनि और शेष जीवोंकी तीनो प्रकारकी योनिया है। नारकी, एकेन्द्रिय और देवों की सवृत, विकलत्रयोकी विवृत तथा गर्भजन्मवालोंकी मिश्र-विवृतसवृत योनि होती है॥ १०५–१०९॥

चौरासीलाख योनियोंका विवरण

[१]नित्येतरनिगोदानां भूम्यम्भोवाततेजसाम्।
सप्त सप्त भवन्त्येषां लक्षाणि दश शाखिनाम् ॥११०॥
षट् तथा विकलाक्षाणां मनुष्याणां चतुर्दश।
तिर्यग्नारकदेवानामेकैकस्य चतुष्टयम्।
एवं चतुरशीतिः स्याल्लक्षाणां जीवयोनयः ॥१११॥

(षट्पदम्)

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक इन छहकी सात-सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, विकलत्रयोंकी छह लाख, मनुष्योकी चौदह लाख, तिर्यञ्च, नारकी और देवोमें प्रत्येककी चार-चार लाख ⋯इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनियाँ होती है॥ ११०–१११॥

कुलकोटियोंका विवरण

द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम्।
कोटीलक्षाणि भूम्यम्भस्तेजोऽनिलशरीरिणाम् ॥११२॥
वनस्पतिशरीराणां तान्यष्टाविंशतिः स्मृताः।
स्युर्द्वित्रिचतुरक्षाणां सप्ताष्ट नव च क्रमात् ॥११३॥

---

१ णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा॥

तानि द्वादश सार्द्धानि भवन्ति जलचारिणाम् ।
नवाहिपरिसर्पाणां गवादीनां तथा दश ॥११४॥
वीनां द्वादश तानि स्युश्चतुर्दश नृणामपि ।
षड्विंशतिः सुराणां तु श्वाभ्राणां पञ्चविंशतिः ॥११५॥
कुलानां कोटिलक्षाणि नवतिर्नवभिस्तथा ।
पञ्चायुतानि कोटीनां कोटिकोटी च मीलनात् ॥११६॥

अर्थ—पृथिवीकायिकके बाईस लाख, जलकायिकके सात लाख, अग्निकायिकके तीन लाख, वायुकायिकके सात लाख, वनस्पतिकायिकके अठ्ठाईस लाख, द्वीन्द्रियोंके सात लाख, त्रीन्द्रियोंके आठ लाख, चतुरिन्द्रियोके नौ लाख, जलचरोंके साढे बारह लाख, सर्प तथा छातीसे सरकनेवाले अजगर आदिके नौ लाख, गाय आदि चौपायोके दश लाख, पक्षियोंके बारह लाख [1]मनुष्योंके चौदह लाख, देवोंके छब्बीस लाख और नारकियोंके पच्चीस लाख कुलोंकी कोटियाँ है। सब मिलाकर कुलोकी सख्या एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजारको एक करोडमे गुणा करनेपर जितना लब्ध आवे उतनी है अर्थात् १९९५०००००००००० प्रमाण है।

भावार्थ—शरीरके भेदकी कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते है अर्थात् जिन पुद्गलोंसे जीवोंके शरीरकी रचना होती है वे इतने प्रकारके है ॥ ११२–११६ ॥

तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम् ।
नभस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा ॥११७॥
उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत्प्रकर्षतः ।
आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम् ॥११८॥
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः ।
षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥११९॥
नवायुः परिसर्पाणां पूर्वाङ्गानि प्रकर्षतः ।
द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः ॥१२०॥

१. गोम्मटसार-जीवकाण्डमे मनुष्योंकी कुलकोटियाँ बारह लाख करोड़ बतलाई हैं।

असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः ।
मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटिं प्रकर्षतः ॥१२१॥
एकं द्वे त्रीणि पल्यानि नृ-तिरश्चां यथाक्रमम् ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम् ।
कुभोगभूमिजानां तु पल्यमेकं तु जीवितम् ॥१२२॥
(षट्पदम्)

अर्थ—पृथिवीकायिकजीवोंकी उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिकजीवोकी सात हजार वर्ष, वनस्पतिकायिकजीवोकी दश हजार वर्ष, वायुकायिकजीवोकी तीन हजार वर्ष, पक्षियोकी बहत्तर हजार वर्ष, सर्पोंकी ब्यालीस हजार वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवोकी उनचास दिन, अग्निकायिककी तीन दिन, चौइन्द्रिय जीवोंकी छह माह, छातीसे सरकनेवाले अजगर आदिकी नौ पूर्वाङ्ग, दो इन्द्रियोंकी बारह वर्ष, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मच्छ, कर्मभूमिज चौपाये और मनुष्योंकी एक करोड़ पूर्व वर्ष, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमिके मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंकी क्रमसे एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य तथा कुभोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोकी एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥ ११७-१२२॥

नारकियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका वर्णन

एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशेति च ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद् घर्मादिषु यथाक्रमम् ॥१२३॥
स्यात्सागरोपमाण्यायुर्नारकाणां प्रकर्षतः ।
दशवर्षसहस्राणि घम्मायां तु जघन्यतः ॥१२४॥
वंशादिषु तु तान्येकं त्रीणि सप्त तथा दश ।
तथा सप्तदश द्वयग्रा विंशतिश्च यथोत्तरम् ॥१२५॥

अर्थ—घर्मा, वशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी इन सात पृथिवियोमे रहनेवाले नारकियोकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर प्रमाण है। घर्मा पृथिवीमे जघन्य आयु दश हजार वर्ष है तथा वंशा आदि पृथिवियोमें क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर और बाईस सागर प्रमाण है ॥ १२३-१२५ ॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

भावनानां भवत्यायुः प्रकृष्टं सागरोपमम् ।
दशवर्षसहस्रं तु जघन्यं परिभाषितम् ॥१२६॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु एकसागर प्रमाण तथा जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण कही गई है ॥ १२६ ॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः ।
दशवर्षसहस्रं तु व्यन्तराणां जघन्यतः ॥१२७॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एकपल्य प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है ॥ १२७ ॥

ज्योतिष्कदेवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः ।
पल्योपमाष्टभागस्तु ज्योतिष्काणां जघन्यतः ॥१२८॥

अर्थ—ज्योतिष्कदेवोकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य और जघन्य आयु पल्यके आठवें भाग प्रमाण है।

भावार्थ—ज्योतिष्कदेवोंमें पल्यसे कुछ अधिक आयुका विवरण इस प्रकार है—चन्द्रमाकी एक लाख वर्ष अधिक पल्य, सूर्यकी एक हजार वर्ष अधिक एक-पल्य, शुक्रकी सौ वर्ष अधिक एकपल्य, बृहस्पतिकी पूर्ण एकपल्य, शेष ग्रहोंकी आधा पल्य, नक्षत्रोंकी आधा पल्य और ताराओंकी चौथाई पल्य उत्कृष्ट स्थिति है १२८ ॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु

द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त दश चैव चतुर्दश ।
षोडशाष्टादशाप्येते सातिरेकाः पयोधयः ॥१२९॥
समुद्रा विंशतिश्चैव तेषां द्वाविंशतिस्तथा ।
सौधर्मादिषु देवानां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥१३०॥
एकैकं वर्द्धयेदब्धिं नवग्रैवेयकेष्वतः ।
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशदविशेषतः ॥१३१॥

त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां विजयादिषु पञ्चसु।
साधिकं पल्यमायुः स्यात्सौधर्मैशानयोर्द्वयोः ॥१३२॥
परतः परतः पूर्वं शेषेषु च जघन्यतः।
आयुः सर्वार्थसिद्धौ तु जघन्यं नैव विद्यते ॥१३३॥

अर्थ—सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन छह युगलोमें क्रमसे [1]कुछ अधिक दो सागर, सात सागर, दश सागर, चौदह सागर, सोलह सागर और अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु है। आनत-प्राणत युगलमें बीस सागर तथा आरण-अच्युत युगलमे बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौग्रैवेयकोंमें प्रत्येक ग्रैवेयकके अनुसार एक-एक सागरकी आयु बढ़ाना चाहिये। इस तरह प्रथम ग्रैवेयकमें तेईस सागर और नौवे ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौ अनुदिशोंमें सामान्यरूपसे एक सागरकी वृद्धि होकर बत्तीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इसके ऊपर विजय आदि पाँच अनुत्तर विमानोमें एक सागर बढ़कर तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है। इसके आगे पिछले युगलोकी उत्कृष्ट स्थिति आगेके युगलोमे जघन्य आयु हो जाती है। सर्वार्थसिद्धिमे जघन्य आयु नही होती है ॥ १२९-१३३ ॥

तिर्यञ्च और मनुष्योंकी जघन्य आयुका सामान्यवर्णन

अन्यत्रानपमृत्युभ्यः सर्वेषामपि देहिनाम्।
अन्तर्मुहूर्तमित्येषां जघन्येनायुरिष्यते ॥१३४॥

अर्थ—जिनकी अपमृत्यु नहीं होती उन्हे छोडकर अन्य सभी तिर्यञ्च और मनुष्योकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मानी गई है ॥ १३४ ॥

अपमृत्यु किनकी नहीं होती ?

असंख्येयसमायुष्काश्चरमोत्तममूर्त्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषामपमृत्युर्न विद्यते ॥१३५॥

---

[1] कुछ अधिकका सम्बन्ध घातायुष्क जीवोसे है, जो जीव पहले ऊपरके स्वर्गोकी आयुका बंध करते हैं, पीछे संक्लेशपरिणामोंके कारण बद्धआयुमे अपकर्षण कर, नीचले स्वर्गोमे उत्पन्न होते है वे घातायुष्क कहलाते है। ऐसे जीवोंकी आयु उस स्वर्गकी निश्चित आयुके आधा सागर अधिक होती है। घातायुष्क जीव बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं।

अर्थ—असंख्यातवर्षकी आयुवाले भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च, चरमोत्तमदेहके धारक मनुष्य, देव और नारकी इनकी अपमृत्यु नहीं होती ।। १३५ ।।

भावार्थ—विष, वेदना, रक्तक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, श्वासनिरोध तथा अन्नपाननिरोध आदि कारण मिलनेपर आयुकर्मके निषेकोंका युगपत् खिर जाना अपमृत्यु कहलाती है। यह अपमृत्यु भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी और चरमशरीरी जीवोंकी नहीं होती। शेष जीवोंकी अपमृत्यु हो सकती है ।। १३५ ।।

नरकोंमें शरीरकी ऊँचाईका वर्णन

घम्मायां सप्त चापानि सपादं च करत्रयम् ।
उत्सेधः स्यात्ततोऽन्यासु द्विगुणो द्विगुणो हि सः ।।१३६।।

अर्थ—घर्मा पृथिवीमें नारकियोंकी ऊँचाई सात धनुष सवा तीन हाथ है और उससे नीचे अन्य पृथिवियोंमें दूनी-दूनी है। (इस तरह दूनी होती होती सातवी पृथिवीमें पाँचसौ धनुषकी ऊँचाई हो जाती है।) ।। १३६ ।।

मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन

शतानि पञ्च चापानां पञ्चविंशतिरेव च ।
प्रकर्षेण मनुष्याणामुत्सेधः कर्मभूमिषु ।।१३७।।
एकः क्रोशो जघन्यासु द्वौ क्रोशौ मध्यमासु च ।
क्रोशत्रयं प्रकृष्टासु भोगभूषु समुन्नतिः ।।१३८।।

अर्थ—कर्मभूमिमें मनुष्योंकी ऊँचाई उत्कृष्टरूपसे पाँचसौ पच्चीस धनुष है। जघन्य भोगभूमिमें एक कोश, मध्यम भोगभूमिमे दो कोश और उत्तम भोगभूमिमें तीन कोश है ।। १३७–१३८ ।।

व्यन्तर, ज्योतिष्क और भवनवासी देवोंकी ऊँचाई

ज्योतिष्काणां स्मृताः सप्तासुराणां पञ्चविंशतिः ।
शेषभावनभौमानां कोदण्डानि दशोन्नतिः ।।१३९।।

अर्थ—ज्योतिष्कदेवोंकी सात धनुष, भवनवासियोंमें असुरकुमारोंकी पच्चीस धनुष और शेष भवनवासी तथा व्यन्तरदेवोंकी ऊँचाई दश धनुष है ।। १३९ ।।

वैमानिक देवोंकी ऊँचाईका वर्णन

द्वयोः सप्त द्वयोः षट् च हस्ताः पञ्च चतुर्ष्वतः ।
ततश्चतुर्षु चत्वारः सार्द्धाश्चातो द्वयोस्त्रयः ॥१४०॥
द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु समुत्सेधः सुधाशिनाम् ।
अधोग्रैवेयकेषु स्यात्साद्धं हस्तद्वयं यथा ॥१४१॥
हस्तद्वितयमुत्सेधो मध्यग्रैवेयकेषु तु ।
अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तोऽप्यर्द्धसमुन्नतिः ।
एकहस्तसमुत्सेधो विजयादिषु पञ्चसु ॥१४२॥
(षट्पदम्)

अर्थ—सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गोमें देवोंकी ऊँचाई सात हाथ, सानत्कुमार और माहेन्द्र इन दो स्वर्गोमे छह हाथ, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तर और कापिष्ट इन चार स्वर्गोमे पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र-शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोमे चार हाथ, आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोमे साढे तीन हाथ, आरण और अच्युत इन दो स्वर्गोमे तीन हाथ, अधोग्रैवेयकके तीन विमानोमे अढाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकके तीन विमानोमे दो हाथ, अन्तिम ग्रैवेयकके तीन विमानो तथा अनुदिशोंमे डेढ हाथ और विजयादिक पाँच अनुत्तरविमानोमे एक हाथकी ऊँचाई है ॥ १४०–१४२ ॥

एकेन्द्रियादि तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः ।
एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मिनि ॥१४३॥
त्रिकोशः कथितः कुम्भी शङ्खो द्वादशयोजनः ।
सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः ॥१४४॥

अर्थ—एकेन्द्रियजीवका शरीर उत्कृष्टतासे कुछ अधिक एकहजार योजन विस्तारवाला है। एकेन्द्रियजीवकी यह उत्कृष्ट अवगाहना कमलकी जानना चाहिये। दो इन्द्रिय जीवोंमें शङ्ख बारह योजन विस्तारवाला है, तीन इन्द्रिय जीवोंमें कुम्भी—चिउटी तीन कोश विस्तारवाली है, चार इन्द्रिय जीवोमे भौरा एक योजन—चार कोश विस्तारवाला है और पाँच इन्द्रिय जीवोमें महामच्छ एकहजार योजन विस्तार वाला है।

भावार्थ—ये उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीपके बीचमें

पड़े हुए स्वयंप्रभ पर्वतके आगेके भागमे होते हैं। मच्छ स्वयंभूरमणसमुद्रमें रहता है ॥ १४३–१४४ ॥

एकेन्द्रियादिक जीवोंको जघन्य अवगाहना

अमंख्याततमो भागो यावानस्त्यङ्गुलस्य तु ।
एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः ॥१४५॥

अर्थ—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोंका शरीर जघन्यरूपसे घनाङ्गुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोमे सर्व जघन्य शरीर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके तीसरे समयमें होता है तथा उसका प्रमाण घनाङ्गुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है। द्वीन्द्रियोमे सर्वजघन्य शरीर अनुधरीका, त्रीन्द्रियोंमें कुन्थुका, चतुरिन्द्रियोमें कणमकाशिकाका और पञ्चेन्द्रियोंमें तण्डुलमच्छका होता है। यद्यपि इन सबका प्रमाण सामान्य रूपसे घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग बराबर है तथापि वह आगे आगे संख्यात गुणा संख्यात गुणा है ॥ १४५ ॥

कौन जीव नरकमें कहाँ तक जाते है ?

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः ।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः ॥१४६॥
तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः ॥१४७॥

अर्थ—असज्ञी पञ्चेन्द्रिय घर्मानामक पहली पृथिवी तक, सरीसृप वशा नामक दूसरी पृथिवी तक, पक्षी मेघा नामक तीसरी पृथिवी तक, सर्प अञ्जना नामक चौथी पृथिवी तक, सिंह अरिष्टा नामक पाँचवीं पृथिवी तक, स्त्रियाँ मघवी नामक छठवी पृथिवी तक, पापी मच्छ तथा मनुष्य माघवी नामक सातवी पृथिवी तक जाते है ॥ १४६–१४७ ॥

नरकोंसे निकले हुए जीव क्या होते हैं ?

न लभन्ते मणुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः ।
तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः ॥१४८॥
मघ्व्या मनुष्यलाभेन षष्ठ्या भूमेर्विनिर्गताः ।
संयमं तु पुनः पुण्यं नाप्नुयन्तीति निश्चयः ॥१४९॥

निर्गताः खलु पञ्चम्या लभन्ते केचन व्रतम् ।
प्रयान्ति न पुनर्मुक्तिं भावसंक्लेशयोगतः ॥१५०॥
लभन्ते निर्वृतिं केचिच्चतुर्थ्या निर्गताः क्षितेः ।
न पुनः प्राप्नुवन्त्येव पवित्रां तीर्थकर्तृताम् ॥१५१॥
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं ततोऽन्याभ्यो विनिर्गताः ।
निर्गत्य नरकान्न स्युर्बलकेशवचक्रिणः ॥१५२॥

अर्थ—सातवी पृथिवीसे निकले हुए नारकी मनुष्यपर्याय प्राप्त नही करते। वे तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होकर फिरसे नरक जाते है। मघ्वी नामक छठवी पृथिवीसे निकले हुए नारकी मनुष्य तो होते है पर वे पवित्र सयमको प्राप्त नही होते, यह निश्चय है। पाँचवी पृथिवीसे निकले हुए कोई नारकी मुनिव्रत तो धारण कर लेते है परन्तु भावोंकी संक्लेशताके कारण मुक्तिको प्राप्त नही होते। चौथी पृथिवीसे निकले हुए कितने ही नारकी मुक्ति तो प्राप्त कर लेते है परन्तु पवित्र तीर्थकरका पद प्राप्त नही करते है। इनके सिवाय अन्य पृथिवियोंसे अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवीसे निकले हुए नारकी तीर्थकर पद प्राप्त कर सकते है। नरकसे निकल कर नारकी बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नही होते ॥ १४८–१५२ ॥

किसका जन्म कहाँ होता है ?

सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः ।
वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यग्भ्यो विनिर्गमः ॥१५३॥
त्रयाणां खलु कायानां विकलानामसंज्ञिनाम् ।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धः संक्रमो मिथः ॥१५४॥
नारकाणां सुराणां च विरुद्धः संक्रमो मिथः ।
नारको न हि देवः स्यान्न देवो नारको भवेत् ॥१५५॥
भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकाङ्गवनस्पतिः ।
तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम् ॥१५६॥
सर्वेऽपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः ।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे ॥१५७॥

पूर्णासंज्ञितिरश्चामविरुद्धं जन्म जातुचित् ।
नारकामरतिर्यक्षु नृषु वा न तु सर्वतः ॥१५८॥
संख्यातीतायुषां मर्त्यतिरश्चां तेभ्य एव तु ।
संख्यातवर्षजीविभ्यः संज्ञिभ्यो जन्म संस्मृतम् ॥१५९॥
संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्ति संक्रमः ।
निसर्गेण भवेत्तेषां यतो मन्दकषायता ॥१६०॥
शलाकापुरुषा नैव सन्त्यनन्तरजन्मनि ।
तिर्यञ्चो मानुषाश्चैव भाज्याः सिद्धगतौ तु ते ॥१६१॥

अर्थ—सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव, सूक्ष्मकाय, अग्निकायिक, वायुकायिक और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय इनका तिर्यञ्चोंसे (अन्य गतिमें) निकलना नही होता अर्थात् ये मर कर पुनः तिर्यंच गतिमें ही उत्पन्न होते है। पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीन कायिकोंका, विकलत्रयोंका तथा असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंका मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें परस्पर उत्पन्न होना विरुद्ध नही है अर्थात् मनुष्य मर कर इनमें उत्पन्न हो सकते है और ये मर कर मनुष्योमे उत्पन्न हो सकते है। नारकी और देवोंका परस्पर सक्रमण विरुद्ध है अर्थात् नारकी देव नही हो सकता और देव नारकी नही हो सकता। स्थूलपर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक, और प्रत्येक वनस्पति इनमे तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवोंका जन्म कहा गया है। सभी अग्निकायिक और सभी वायुकायिक जीव अनन्तर जन्ममें मनुष्योमे उत्पन्न नही होते हैं, यह नियम है। पर्याप्तक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोका जन्म कदाचित् नारकियो, देवों, तिर्यञ्चों और मनुष्योमे विरुद्ध नही है अर्थात् कभी किसी जीवका जन्म होता है सबका सर्वदा नही। असंख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोंका जन्म संख्यातवर्षकी आयु-वाले सञ्ज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्चोंसे माना गया है अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्चोसे आकर उत्पन्न होते है। नारकी और देवोंका जन्म भोगभूमिमे नही होता। इसी तरह भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च भी मर कर भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च नही होते है। असख्यातवर्षकी आयुवाले—भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोका जन्म नियमसे देवोमे ही होता है क्योंकि उनके स्वभावसे मन्दकषाय रहती है। शलाकापुरुष अनन्तर जन्ममें तिर्यञ्च और मनुष्य नियमसे नही होते अर्थात् नरक और देवगतिमें उत्पन्न होते हैं। कितने ही शलाकापुरुष सिद्धगतिको भी प्राप्त होते है।

भावार्थ—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रति-नारायण ये ६३ शलाकापुरुष कहलाते है। इनमे तीर्थंकर नियमसे मोक्ष जाते

हैं। चक्रवर्तियोंमें कोई नरक जाते हैं, कोई देव होते है और कोई मोक्ष जाते हैं। बलभद्रोमे कोई स्वर्ग जाते है और कोई मोक्ष जाते हैं। परन्तु नारायण और प्रतिनारायण नियमसे नरक ही जाते हैं ॥ १५३–१६१॥

देवोंमें कौन उत्पन्न होते हैं ?

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽथवा ।
व्यन्तरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः ॥१६२॥
संख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चाप्यसद्दृशः ।
उत्कृष्टास्तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम् ॥१६३॥
ब्रह्मलोके प्रजायन्ते परिव्राजः प्रकर्षतः ।
आजीवास्तु सहस्रारं प्रकर्षेण प्रयान्ति हि ॥१६४॥
उत्पद्यन्ते सहस्रारे तिर्यञ्चो व्रतसंयुताः ।
अत्रैव हि प्रजायन्ते सम्यक्त्वाराधका नराः ॥१६५॥
न विद्यते परं ह्यस्मादुपपादोऽन्यलिङ्गिनाम् ।
निर्ग्रन्थश्रावका ये ते जायन्ते यावदच्युतम् ॥१६६॥
धृत्वा निग्रन्थलिङ्गं ये प्रकृष्टं कुर्वते तपः ।
अन्त्यग्रैवेयकं यावदभव्याः खलु यान्ति ते ॥१६७॥
यावत्सर्वार्थसिद्धिं तु निर्ग्रन्था हि ततः परम् ।
उत्पद्यन्ते तपोयुक्ता रत्नत्रयपवित्रिताः ॥१६८॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि जीव सञ्ज्ञी अथवा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय है वे व्यन्तर तथा भवनवासी होते हैं। मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा उत्कृष्ट तापस ये ज्योतिष्क देवोमें उत्पत्तिको प्राप्त होते है। परिव्राजक अधिकसे अधिक ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते है। आजीवक अधिकसे अधिक सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं। व्रती तिर्यञ्च और अविरत सम्यग्दृष्टि भी यही तक उत्पन्न होते है। इसके आगे अन्य लिङ्गके धारकोकी उत्पत्ति नही है। जो निष्परिग्रह श्रावक है वे अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते है। जो अभव्य निर्ग्रन्थलिङ्ग अर्थात् दिगम्बर मुनिका वेष धारणकर उत्कृष्ट तप करते है वे अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते है। और जो रत्नत्रयसे पवित्र निर्ग्रन्थ तपस्वी है वे सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते है ॥ १६२–१६८ ॥

देवगतिसे आकर जीव क्या क्या होते हैं ?

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः ।
तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः ॥१६९॥
ततः परं तु ये देवास्ते सर्वेऽनन्तरे भवे ।
उत्पद्यन्ते मनुष्येषु न हि तिर्यक्षु जातुचित् ॥१७०॥
शलाकापुरुषा न स्युर्भौमज्योतिष्कभावनाः ।
अनन्तरभवे तेषां भाज्या भवति निर्वृतिः ॥१७१॥
ततः परं विकल्प्यन्ते यावद्ग्रैवेयक सुराः ।
शलाकापुरुषत्वेन निर्वाणगमनेन च ॥१७२॥
तीर्थेशरामचक्रित्वे निर्वाणगमनेन च ।
च्युताः सन्तो विकल्प्यन्तेऽनुदिशानुत्तरामरः ॥१७३॥
भाज्यास्तीर्थेशचक्रित्वे च्युताः सर्वार्थसिद्धितः ।
विकल्प्या रामभावेऽपि सिद्ध्यन्ति नियमात्पुनः ॥१७४॥
दक्षिणेन्द्रास्तथा लोकपाला लौकान्तिकाः शची ।
शक्रश्च नियमाच्च्युत्वा सर्वे ते यान्ति निर्वृतिम् ॥१७५॥

अर्थ—ऐशान स्वर्ग तकसे च्युत देव एकेन्द्रियोंमे उत्पन्न हो सकते हैं। सहस्रार स्वर्ग तकसे च्युत देव तिर्यञ्च और मनुष्य दोनोंमें उत्पन्न हो सकते है। परन्तु इसके आगेके देव अनन्तरभवमें नियमसे मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते है। तिर्यञ्चोमें कभी नही उत्पन्न होते। व्यन्तर, ज्योतिष्क और भवनवासी देव अनन्तरभवमे शलाका पुरुष नही होते। वहाँसे आये हुए मनुष्योंको निर्वाण भी प्राप्त हो सकता है। ग्रैवेयक तकसे आये हुए देव शलाकापुरुष हो सकते हैं और मोक्ष भी जा सकते है। अनुदिश और अनुत्तरवासी देव वहाँसे च्युत होकर तीर्थकर, बलभद्र और चक्रवर्ती हो सकते हैं और निर्वाणको भी प्राप्त हो सकते है। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत देव तीर्थकर चक्रवर्ती और बलभद्र भी हो सकते हैं तथा नियमसे मोक्ष प्राप्त करते है। दक्षिण दिशाके इन्द्र, लोकपाल, लौकान्तिकदेव, शची और सौधर्मेन्द्र ये सभी स्वर्गसे च्युत हो, नियमसे मनुष्य होकर उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ १६९–१७५॥

लोकका वर्णन

धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तः कालाणुभिस्तथा ।
व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकः स्यात्क्षेत्रमात्मनाम्॥१७६॥

अर्थ—आकाशके बीचमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा कालाणुओंसे व्याप्त और पुद्गलद्रव्यसे युक्त लोक है। यह लोक ही जीवोंका क्षेत्र—आधार है।

भावार्थ—सब ओरसे अनन्त अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोक है। यह लोक छहों द्रव्यसे व्याप्त है। यही लोक जीवोंका क्षेत्र अर्थात् आधार कहा गया है।

लोकके भेद और आकार

अधो वेत्रासनाकारो मध्येऽसौ झल्लरीसमः।
ऊर्ध्वं मृदङ्गसंस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः ॥१७७॥

अर्थ—सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा हुआ यह लोक, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। यह लोक नीचे वेत्रासनके आकारका है, मध्यमे झालरके समान है और ऊपर मृदङ्गके सदृश है॥ १७७॥

लोकका विभाग

सर्वसामान्यतो लोकस्तिरश्चां क्षेत्रमिष्यते।
श्वाभ्रमानुशदेवानामथातस्तद्विभज्यते ॥१७८॥

अर्थ—सर्वसामान्यरूपसे यह लोक तिर्यञ्चोका क्षेत्र माना जाता है। अब नरक, मनुष्य और देवोके क्षेत्रका विभाग किया जाता है॥ १७८॥

अधोलोकका वर्णन

अधो भागे हि लोकस्य सन्ति रत्नप्रभादयः।
घनाम्बुपवनाकाशे प्रतिष्ठाः सप्त भूमयः ॥१७९॥
रत्नप्रभादिमा भूमिस्ततोऽधः शर्कराप्रभा।
स्याद्वालुकाप्रभातोऽस्धततः पङ्कप्रभा मता ॥१८०॥
ततो धूमप्रभाधस्तात्ततोऽधस्तात्तमःप्रभा।
तमस्तमःप्रभातोऽधो भुवामित्थं व्यवस्थितिः ॥१८१॥

अर्थ—लोकके अधोभागमे रत्नप्रभा आदि सात भूमियाँ है जो घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आधार है। उन भूमियोमें रत्नप्रभा पहली भूमि है, उसके नीचे शर्कराप्रभा है, उसके नीचे बालुकाप्रभा है; उसके नीचे पङ्कप्रभा है, उसके नीचे धूमप्रभा है, उसके नीचे तमःप्रभा है, और उसके नीचे तमस्तमःप्रभा है। इस प्रकार सात भूमियोंकी स्थिति है॥ १६९–१८१॥

उक्त पृथिवियोंमें बिलोंकी संख्या

त्रिंशन्नरकलक्षाणि भवन्त्युपरिमक्षितौ ।
अधः पञ्चकृतिस्तस्यास्ततोऽधो दशपञ्च च ॥१८२॥
ततोऽधो दशलक्षाणि त्रीणि लक्षाण्यधस्ततः ।
पञ्चोनं लक्षमेकं तु ततोऽधः पञ्च तान्यतः ॥१८३॥

अर्थ—सबसे ऊपरकी भूमिमें तीस लाख, उससे नीचेकी भूमिमे पच्चीस लाख, उससे नीचेकी भूमिमें पन्द्रह लाख, उससे नीचेकी भूमिमे दश लाख, उससे नीचेकी भूमिमे तीन लाख, उससे नीचेकी भूमिमें पाँच कम एक लाख और उससे नीचेकी भूमिमें सिर्फ पाँच विल है। ये विल नरक कहलाते है ॥ १८२–१८३ ॥

नरकोंके दुःखोंका वर्णन

परिणामवपुर्लेश्यावेदनाविक्रियादिभिः ।
अत्यन्तमशुभैर्जीवा भवन्त्येतेषु नारकाः ॥१८४॥
अन्योन्योदीरितासह्य दुःखभाजो भवन्ति ते ।
संक्लिष्टासुरनिर्वृत्तदुःखाश्चोर्द्ध्वक्षितित्रये ॥१८५॥
पाकान्नरकगत्यास्ते तथा च नरकायुषः ।
भुञ्जते दुःकृतं घोरं चिरं सप्तक्षितिस्थिताः ॥१८६॥

अर्थ—इन नरकोंमे नारकी जीव, अत्यन्त अशुभ परिणाम, शरीर, लेश्या, वेदना और विक्रिया आदिसे युक्त रहते हैं। परस्परमें दिये हुए असह्य दुःखको भोगते है। ऊपरकी तीन पृथिवियोमें संक्लेश परिणामोंके धारक असुरकुमारके देव उन्हे दुःखी करते हैं। इस तरह सातों भूमियोमें रहनेवाले नारकी जोव नरकगति उदयसे नरकायु पर्यन्त चिरकाल तक घोर पापका फल भोगते है।

भावार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहते है। नरकोंके स्पर्शादिक अत्यन्त भयावह है। वहाँकी भूमिका स्पर्श होते ही उतना दुःख होता है जितना कि हजार बिच्छुओंके एक साथ काटनेपर भी नही होता। यही दशा वहाँके रस आदिकी है। नरकोंमें कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहली और दूसरी भूमिमें कपोत लेश्या है, तीसरी भूमिमें ऊपरके पटलोंमें कापोत लेश्या और नीचेके पटलोंमें नील लेश्या है। चौथी भूमिमें नील लेश्या है, पाँचवी भूमिमें ऊपरके पटलोंमें नील लेश्या है और

नीचेके पटलोंमें कृष्ण लेश्या है। छठवी भूमिमें कृष्ण लेश्या है और सातवीं भूमिमें परम कृष्णलेश्या है। इन नारकियोंका शरीर अत्यन्त विरूप आकृति तथा हुण्डकसंस्थानसे युक्त होता है। देखनेमें भी भयंकर होता है। प्रथम भूमिके नारकियोंका शरीर सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल ऊँचा रहता है और नीचे-नीचेकी पृथिवियोंमें दूना-दूना हो जाता है। नरकोंकी वेदनाओंको शब्दोंद्वारा नही गिनाया जा सकता। वहाँ पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमिमें उष्ण-वेदना है, पाँचवी भूमिमें ऊपरके दो लाख बिलोंमें उष्णवेदना है और नीचेके एक लाख बिलोमें तथा छठवीं और सातवीं भूमिमें शीतवेदना है। जिन नरकोमे उष्णवेदना है उनमे मेरुपर्वतके बराबर लोहेका गोला यदि पहुँच सके तो वह क्षणमात्रमे गलकर पानी हो जावेगा और जिनमें शीतवेदना है उनमें मेरुपर्वतके बराबर लोहेका गोला शीतवायुके स्पर्शसे फटकर क्षार-क्षार हो जायगा। वहाँकी विक्रिया भी अत्यन्त अशुभ होती है। नारकियोंके अपृथक् विक्रिया होती है अर्थात् अपने शरीरमें ही वे परिणमन कर सकते है। वे अच्छी विक्रिया करना चाहते है पर अशुभ विक्रिया ही होती है। इन उपर्युक्त दुःखोंसे ही उनका कष्ट शान्त नही होता, ऊपरकी तीन पृथिवियो तक असुरकुमार जातिके देव जाकर उन् नारकियोंको पूर्व वैरका स्मरण दिलाकर परस्परमे लड़ाते है। उन्हे लडते देखके स्वय सुखी होते हैं। उन असुरकुमारोके इसी जातिके सक्लेश परिणाम रहते है। इस तरह उन भूमियोमे नारकी, भूमि सम्बन्धी दु खोको, परस्पर उपजाये दु खोंको और असुरकुमार देवोके द्वारा उदीरित दु खोको आयु-पर्यन्त भोगते है, असमयमे वहाँसे निकलना नही होता ॥ १८४–१८६ ॥

मध्यलोकका वर्णन

मध्यभागे तु लोकस्य तिर्यक्प्रचयवर्द्धिनः।
असंख्याः शुभनामानो भवन्ति द्वीपसागराः ॥१८७॥
जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये लक्षयोजनविस्तारः।
आदित्यमण्डलाकारो बहुमध्यस्थमन्दरः ॥१८८॥
द्विगुणद्विगुणेनातो विष्कम्भेणार्णवादयः।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्य वलयाकृतयः स्थिताः ॥१८९॥
जम्बूद्वीपं परिक्षिप्य लवणोदः स्थितोऽर्णवः।
द्वीपस्तु धातकीखण्डस्तं परिक्षिप्य संस्थितः ॥१९०॥
आवेष्ट्य धातकीखण्डं स्थितः कालोदसागरः।
आवेष्ट्य पुष्करद्वीपः स्थितः कालोदसागरम् ॥१९१॥

परिपाट्यानया ज्ञेयाः स्वयंभूरमणोदधिम् ।
यावज्जिनाज्ञया भव्यैरसंख्या द्वीपसागराः ॥१९२॥

अर्थ—लोकके मध्यभागमें तिर्यक्‌रूपसे (समानधरातलपर) बढ़ते हुए शुभ नामवाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सबके बीचमे एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्यमण्डलके समान आकारवाला है तथा इसके ठीक बीचमें मेरु पर्वत स्थित है। इसके आगे दूने-दूने विस्तारवाले समुद्र तथा द्वीप हैं। वे समुद्र और द्वीप पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्रको घेरे हुए चूड़ीके आकार स्थित हैं। जैसे जम्बूद्वीपको घेरकर लवणसमुद्र स्थित है। उसे घेरकर धातकी खण्डद्वीप स्थित है। धातकीखण्डद्वीपको घेरकर कालोदधिसमुद्र स्थित है। और कालोदधिसमुद्रको घेरकर पुष्करद्वीप स्थित है। इसी परिपाटीसे स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे भव्यजीवोके द्वारा जानने योग्य हैं ॥ १८७–१९२ ॥

जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोंके नाम

सप्त क्षेत्राणि भरतस्तथा हैमवतो हरिः ।
विदेहो रम्यकश्चैव हैरण्यवत एव च ।
ऐरावतश्च तिष्ठन्ति जम्बूद्वीपे यथाक्रमम् ॥१९३॥
(षट्पदम्)

अर्थ—जम्बूद्वीपमे क्रमसे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत ये सात क्षेत्र स्थित है ॥ १९३ ॥

जम्बूद्वीपके कुलाचलोंका वर्णन

पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा ऊर्ध्वाधस्तुल्यविस्तराः ।
तद्विभागकराः षट् स्युः शैलाः पूर्वापरायताः ॥१९४॥
हिमवान्महाहिमवान्निषधो नीलरुक्मिणौ ।
शिखरी चेति संचिन्त्या एते वर्षधराद्रयः ॥१९५॥
कनकार्जुनकल्लाणवैडूर्यार्जुनकाञ्चनैः ।
यथाक्रमेण निर्वृत्ताश्चिन्त्यास्ते षण्महीधराः ॥१९६॥

अर्थ—उपर्युक्त सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले छह पर्वत है। ये पर्वत किनारों में मणियोंसे चित्र-विचित्र हैं, ऊपर, नीचे और मध्यमें तुल्य विस्तारवाले है तथा

पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं। इनके नाम हैं–१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी। ये पर्वत वर्षधर पर्वत अर्थात् कुलाचल कहे जाते हैं। ये छहों पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चाँदी, सुवर्ण, नीलमणि, चाँदी तथा सुवर्णसे निर्मित हैं अर्थात् उनके समान वर्णवाले है ॥ १९४–१९६ ॥

कुलाचलोंपर स्थित सरोवरोंका वर्णन

पद्मस्तथा महापद्मस्तिगिञ्छः केशरी तथा।
पुण्डरीको महान् क्षुद्रो ह्रदा वर्षधराद्रिषु ॥१९७॥
सहस्रयोजनायाम आद्यस्तस्यार्द्धविस्तरः।
द्वितीयो द्विगुणस्तस्मात्तृतीयो द्विगुणस्ततः ॥१९८॥
उत्तरा दक्षिणैस्तुल्या निम्नास्ते दशयोजनीम्।
प्रथमे परिमाणेन योजनं पुष्करं ह्रदे ॥१९९॥
द्विचतुर्योजनं ज्ञेयं तद् द्वितीयतृतीययोः।
अपाच्यवदुदीच्यानां पुष्कराणां प्रमाश्रिताः ॥२००॥
श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिर्बुद्धिर्लक्ष्मीश्च देवताः।
पल्योपमायुषस्तेषु पर्षत्सामानिकान्विताः ॥२०१॥

अर्थ—उन कुलाचलोंपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरी, महा-पुण्डरीक और पुण्डरीक नामके छह सरोवर है। पहला सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है। दूसरा सरोवर इससे दूना है और तीसरा सरोवर दूसरेसे दूना है। उत्तरके तीन सरोवर दक्षिणके सरोवरोंके समान विस्तारवाले है। ये सभी सरोवर दश योजन गहरे हैं। पहले सरोवरमें एक योजन विस्तारवाला कमल है। दूसरे सरोवरमें दो योजन विस्तारवाला और तीसरे सरोवरमें चार योजन विस्तारवाला कमल है। उत्तरके कमलोंका प्रमाण दक्षिणके कमलोंके समान है। उन कमलोंपर क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामकी देवियाँ रहती है। ये देवियाँ एक पल्यकी आयुवाली है तथा पारिषत्क और सामानिक जातिके देवोसे सहित है ॥ १९७–२०१ ॥

चौदह महानदियोंका वर्णन

गङ्गासिन्धू उभे रोहिद्रोहितास्ये तथैव च।
ततो हरिद्धरिकान्ते च शीताशीतोदके तथा ॥२०२॥

स्तो नारीनरकान्ते च सुवर्णार्जुनकूलिके ।
रक्तारक्तोदके च स्तो द्वे द्वे क्षेत्रे च निम्नगे ॥२०३॥
पूर्वसागरगामिन्यः पूर्वा नद्यो द्वयोर्द्वयोः ।
पश्चिमार्णवगामिन्यः पश्चिमास्तु तयोर्मताः ॥२०४॥
गङ्गासिन्धुपरीवारः सहस्राणि चतुर्दश ।
नदीनां द्विगुणास्तिस्रस्तिस्रुतोऽर्द्धार्द्धहापनम् ॥२०५॥

अर्थ—गङ्गा सिन्धु, रोहित् रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, शीता शीतोदा, नारी नरकान्ता सुवर्णकूला रूप्यकूला और रक्ता रक्तोदा इन सात युगलोंकी चौदह महानदियाँ है। जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोंमें प्रत्येक क्षेत्रमें दो-दो नदियाँ बहती है। दो-दो नदियोंके युगलमें पहली नदी पूर्व समुद्रकी ओर जाती है और दूसरी नदी पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करती है। गङ्गा-सिन्धुका सहायक परिवार चौदह हजार नदियाँ है। इसके आगे तीन युगलोकी सहायक नदियोंका परिवार दूना-दूना है और उसके आगे तीन युगलोंका परिवार आधा-आधा होता जाता है॥ २०२–२०५॥

क्षेत्र तथा पर्वतोंके विस्तारका वर्णन

दशोनद्विशतीभक्तो जम्बूद्वीपस्य विस्तरः ।
विस्तारो भरतस्यासौ दक्षिणोत्तरतः स्मृतः ॥२०६॥
द्विगुणद्विगुणा वर्षधरवर्षास्ततो मताः ।
आविदेहात्ततस्तु स्युरुत्तरा दक्षिणैः समाः ॥२०७॥

अर्थ—जम्बूद्वीपके विस्तार अर्थात् एक लाख योजनमे एकसौ नब्बै योजनका भाग देनेपर जो लब्ध आता है उतना अर्थात् ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन भरत क्षेत्रका दक्षिणसे उत्तर तक विस्तार माना गया है। आगेके कुलाचल और क्षेत्र दूने-दूने विस्तार वाले है। यह दूने-दूने विस्तारका क्रम विदेह क्षेत्र तक ही है। उत्तरके कुलाचल और क्षेत्र दक्षिणके कुलाचल और क्षेत्रोंके समान हैं॥ २०६–२०७॥

कालचक्रका परिवर्तन कहाँ होता है ?

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे ।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित् ॥२०८॥

अर्थ—छह कालोंसे युक्त तथा वृद्धि और हानिको देनेवाली उत्सर्पिणी और

अवसर्पिणी भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र किसी क्षेत्रमें नहीं होती है।

भावार्थ—बीस कोडाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। उसके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी अपेक्षा दो भेद होते है। जिसमें मनुष्योंके बल, वृद्धि, आयु आदिकी वृद्धि होती है उसे उत्सर्पिणी कहते है और जिसमें उक्त चीजोंकी हानि होती है उसे अवसर्पिणी कहते है। दोनोके सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादु षमा, दु षमासुषमा, दु षमा और दु षमादु षमा ये छह भेद होते हैं। ऊपर लिखा हुआ क्रम अवसर्पिणीका है। उत्सर्पिणीका क्रम इसके विपरीत होता है। सुषमासुषमा ४ कोडाकोडी सागरका होता है। इसमें उत्तम भोगभूमिकी रचना होती है। सुषमा ३ कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसमे मध्यम भोगभूमिकी रचना होती है। सुषमादु षमा २ कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसमे जघन्य भोगभूमिकी रचना होती है। पर जब पल्यका आठवा भाग बाकी रह जाता है तबसे कर्मभूमिकी रचना होती है। दु षमासुषमा ब्यालोस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसमें कर्मभूमिकी रचना होती है। दु षमा इक्कीस हजार वर्षका होता है। इसी प्रकार दु षमादु षमा भी इक्कीस हजार वर्षका होता है। इन दोनों कालोमें भी कर्मभूमिकी रचना रहती है। इस तरह अवसर्पिणीके छह काल व्यतीत हो चुकनेपर उत्सर्पिणीके दु षमादु षमा आदि छह काल क्रमसे प्रवर्त्तते है। भरत और ऐरावत क्षेत्रमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह कालोंका चक्र क्रमसे चलता रहता है। इन दो क्षेत्रोंको छोडकर अन्य क्षेत्रोमे कालचक्रका परिवर्तन नही होता। जहाँ जो काल होता है वही अनाद्यनन्त काल तक रहता है। जैसे हैमवत और हैरण्यवतमे सुषमादु षमा नामका तीसरा काल, हरि और रम्यक क्षेत्रमे सुषमा नामका दूसरा काल और विदेहक्षेत्रमे दु षमासुषमा नामका चौथा काल सदा रहता है। विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत जो देवकुरु और उत्तरकुरु नामके प्रदेश है उनमे सुषमासुषमा नामका पहला काल सदा रहता है। भरत और ऐरावत क्षेत्रके पाच म्लेच्छ खण्डो तथा विजयार्ध पर्वतपर चौथे कालके आदि अन्तरूप परिवर्तन होता है, उनमें छह कालोंका परिवर्तन नहीं होता ॥ २०८ ॥

धातकीखण्ड और पुष्करद्वीपका वर्णन

जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो वर्षा वर्षधरा अपि।
द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च निश्चिताः ॥२०९॥
पुष्करद्वीपमध्यस्थो मानुषोत्तरपर्वतः।
श्रूयते वलयाकारस्तस्य प्रागेव मानुषाः ॥२१०॥

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु द्वयोश्चापि समुद्रयोः ।
निवासोऽत्र मनुष्याणामत एव नियम्यते ॥२११॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमें क्षेत्र और कुलाचलोंकी जो संख्या कही गई है, धातकीखंड और पुष्करार्धमें उससे दूनी संख्या निश्चित है अर्थात् इन दो खण्डोंमें चौदह-चौदह क्षेत्र और बारह-बारह कुलाचल हैं। पुष्करद्वीपके मध्यमें चूड़ीके आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत सुना जाता है। उसके पहले-पहले ही मनुष्योंका सद्भाव कहा है। इसीलिये अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंमें मनुष्योंका निवास नियमित किया जाता है॥ २०९–२११॥

मनुष्योंके भेद

आर्यम्लेच्छविभेदेन द्विविधास्ते तु मानुषाः ।
आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः ॥
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥२१२॥

(षट्पदम्)

अर्थ—आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके है। जो आर्यखण्डमें उत्पन्न है वे आर्य कहलाते है। आर्य खण्डमे उत्पन्न होनेवाले कितने ही शक, यवन, शबर आदि म्लेच्छ भी कहलाते है। म्लेच्छखण्डों तथा अन्तरद्वीपोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य म्लेच्छ कहलाते है।

भावार्थ—अडतालीस लवण समुद्रमें और अड़तालीस कालोदधि समुद्रमें, दोनोके मिलाकर छियानवे अन्तरद्वीप है। इनमें रहनेवाले म्लेच्छ अन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहलाते है और म्लेच्छखण्डोंमें उत्पन्न होनेवाले म्लेच्छखण्डज म्लेच्छ कहलाते हैं। इस तरह म्लेच्छखण्डज और अन्तरद्वीपजके भेदसे म्लेच्छ दो प्रकार है। इन क्षेत्रोंके सिवाय आर्यखण्डमें रहनेवाले शक, यवन, शबर आदि भी म्लेच्छ कहे जाते है॥ २१२॥

देवलोकका वर्णन, देवोंके चार निकाय

भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः ।
देवाश्चतुर्णिकायाः स्युर्नामकर्मविशेषतः ॥२१३॥

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकके भेदसे देवोंके चार निकाय है। ये भेद नामकर्मकी विशेषतासे होते हैं॥ २१३॥

देवोंके अवान्तर भेद

दशधा भावना देवा अष्टधा व्यन्तराः स्मृताः ।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेयाः सर्वे वैमानिका द्विधा ॥२१४॥

अर्थ—भवनवासी दश प्रकारके, व्यन्तर आठ प्रकारके, ज्योतिष्क पाँच प्रकारके और सभी वैमानिक दो प्रकारके जानना चाहिये ॥ २१४ ॥

दश प्रकारके भवनवासी देव

नागासुरसुपर्णाग्निदिग्वातस्तनितोदधिः ।
द्वीपविद्युत्कुमाराख्या दशधा भावनाः स्मृताः ॥२१५॥

अर्थ—नागकुमार, असुरकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, दिक्कुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और विद्युत्कुमार ये दश प्रकारके भवनवासी देव माने गये हैं ॥ २१५ ॥

आठ प्रकारके व्यन्तर देव

किन्नराः किम्पुरुषाश्च गन्धर्वाश्च महोरगाः ।
यक्षराक्षसभूताश्च पिशाचा व्यन्तराः स्मृताः ॥२१६॥

अर्थ—किन्नर, किम्पुरुष, गन्धर्व, महोरग, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ प्रकारके व्यन्तर स्मरण किये गये हैं ॥ २१६ ॥

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद

सूर्याचन्द्रमसौ चैव ग्रहनक्षत्रतारकाः ।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेया ते चलाचलभेदतः ॥२१७॥

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और ताराके भेदसे ज्योतिष्कदेव पाँच प्रकारके जानना चाहिये । ये ज्योतिष्क देव चल और अचलके भेदसे दो प्रकारके हैं । अढ़ाई देवके ज्योतिष्क द्वीप चल है और उसके बाहरके अचल—अवस्थित हैं ॥ २१७ ॥

वैमानिक देवोंके दो भेद

कल्पोपपन्नास्तथा कल्पातीता ते वैमानिका द्विधा ।

अर्थ—कल्पोपपन्न और कल्पातीतके भेदसे वैमानिक देव दो प्रकारके हैं । सोलहवें स्वर्ग तकके देव कल्पोपपन्न और उसके आगेके कल्पातीत कहलाते हैं ।

देवोंमें इन्द्र आदि भेदोंका वर्णन

इन्द्राः सामानिकाश्चैव त्रायस्त्रिंशाश्च पार्षदाः ॥२१८॥
आत्मरक्षास्तथा लोकपालानीकप्रकीर्णकाः ।
किल्विषा आभियोग्याश्च भेदाः प्रतिनिकायकाः ॥२१९॥
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैर्विरहिताः परे ।
व्यन्तरज्योतिषामष्टौ भेदाः सन्तीति निश्चिताः ॥२२०॥

अर्थ—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पार्षद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, किल्विष और आभियोग्य ये दश भेद प्रत्येक निकायमे होते हैं। परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेदसे रहित हैं अर्थात् उनके आठ ही भेद होते हैं।

भावार्थ—इन्द्रादिक भेदोंके लक्षण इस प्रकार है—

इन्द्र—जो अन्य देवोमें न पाये जानेवाले अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यका अनुभव करते है उन्हें इन्द्र कहते हैं। ये राजाके तुल्य माने गये है।

सामानिक—जिनका वैभव तो इन्द्रके समान हो परन्तु आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित हों वे सामानिक कहलाते है। ये पिता तथा गुरु आदिके तुल्य होते हैं।

त्रायस्त्रिंश—जो मन्त्री तथा पुरोहित आदिके तुल्य हों उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते है। ये एक इन्द्रकी सभामें गिनतीके तेतीस ही होते है।

पार्षद—जो इन्द्रकी सभामें बैठनेवाले सदस्य है उन्हे पार्षद या पारिषद कहते है। ये मित्र तथा पीठमर्दके समान होते हैं।

आत्मरक्ष—जो अङ्गरक्षकके समान होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल—जो आरक्षक—पुलिसके समान होते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं।

अनीक—जो सेनाके स्थानापन्न होते है उन्हे अनीक कहते हैं।

प्रकीर्णक—जो नगरवासियोके समान होते उन्हे **प्रकीर्णक** कहते हैं।

किल्विषिक—जो चाण्डाल आदिके समान होते हैं उन्हें **किल्विषिक** कहते हैं।

आभियोग्य—जो वाहनके काम आते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं।

इन दश भेदोंमेंसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें नहीं होते हैं। अतः उनमें आठ हो भेद होते हैं ॥२१८–२२०॥

देवोंमें कामसुखका वर्णन

पूर्वे कायप्रवीचारा व्याप्यैशानं सुराः स्मृताः ।
स्पर्शरूपध्वनिस्वान्तप्रवीचारास्ततः परे ॥
ततः परेऽप्रवीचाराः कामक्लेशाल्पभावतः ॥२२१॥

(षट्पदम्)

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्ग तकके देव कायप्रवीचार है। उसके आगे तीसरे चौथे स्वर्गके देव स्पर्शप्रवीचार, पाँचवेंसे आठवें स्वर्ग तकके देव रूपप्रवीचार नौवेंसे बारहवे तक शब्दप्रवीचार और तेरहवेंसे सोलहवे स्वर्ग तकके देव मनःप्रवीचार होते है। उसके आगेके देव प्रवीचारसे रहित होते है क्योंकि उनके काम-बाधा अत्यन्त अल्प रहती है।

भावार्थ—प्रवीचारका अर्थ कामसेवन है। सासारिक सुखोंमें कामसेवन जन्य सुखकी प्रधानता है। इसलिये देवोंके इसी सुखका वर्णन किया गया है। भवनत्रिक देव तथा दूसरे स्वर्ग तकके कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे कामसेवन करते हैं। उसके आगे तीसरे चौथे स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शमात्रसे संतुष्ट हो जाते है। पाँचवेसे आठवे स्वर्ग तकके देव, देवियोका रूप देखने मात्रसे संतुष्ट हो जाते है। नौवेंसे बारहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोके शब्द सुनने मात्रसे संतुष्ट हो जाते है और तेरहवेसे सोलहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंका मनमें स्मरण आने मात्रसे सतुष्ट हो जाते हैं। यही हाल देवियोंका रहता है। सोलहवे स्वर्गके आगेके देव कामसेवनसे सर्वथा रहित है। वहाँ देवाङ्गनाओंका सद्भाव भी नही है। इन सबके कामबाधा अत्यन्त अल्प रहती है। इसलिये उन्हें कभी काम-सुखकी इच्छा ही नही होती ॥२२१॥

भवनत्रिक देवोंका निवास कहाँ है ?

घर्मायाः प्रथमे भागे द्वितीयेऽपि च कानिचित् ।
भवनानि प्रसिद्धानि वसन्त्येतेषु भावनाः ॥२२२॥
रत्नप्रभाभुवो मध्ये तथोपरितलेऽपि च ।
विविधेष्वन्तरेष्वत्र व्यन्तरा निवसन्ति ते ॥२२३॥
उपरिष्टान्महीभागात् पटलेषु नभोऽङ्गणे ।
तिर्यग्लोकं समाच्छाद्य ज्योतिष्का निवसन्ति ते ॥२२४॥

अर्थ—घर्मा—रत्नप्रभा पृथिवीके पहले और दूसरे भागमें कुछ भवन प्रसिद्ध

हैं उनमें भवनवासी देव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवीके मध्यभागमें उपरितन भागमें और मध्यमलोकके नाना स्थानोंमें व्यन्तर देव निवास करते हैं। पृथिवीसे ऊपर चलकर आकाशमें ज्योतिष्क निवास करते हैं। ये ज्योतिष्क देव समस्त मध्यम लोकके आकाशको व्याप्तकर स्थित है।

भावार्थ—पहली रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग, पङ्कबहुलभाग और अब्ब-हुलभागके भेदसे जो तीन भाग है उनमें तीसरे अब्बहुलभागमें प्रथम नरककी रचना है। दूसरे पङ्कबहुल भागमें असुरकुमार भवनवासियोंके भवन है तथा खर भागमे ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष नौ भवनवासियोंका निवास है। इस जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप-समुद्रोंका उल्लंघनकर रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमे राक्षसोंको छोड़कर शेष सात प्रकारके व्यन्तरोंका निवास है और पङ्कबहुलभागमे राक्षसोका निवास है। इसके सिवाय मध्यमलोकमें भी नाना स्थानोपर व्यन्तरोंका निवास है। मानुषोत्तर पर्वतके आगे और स्वयंभू-रमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतके पहले जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमें व्यन्तर देवो तथा तिर्यञ्चोंका ही निवास है। समान धरातलसे ऊपर आकाशमे सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाईसे लेकर नौसौ योजनकी ऊँचाई तक एकसौ दश योजनके पटलमें ज्योतिष्क देवोंका निवास है। सबसे नीचे तारा विचरते है, उनसे दश योजन ऊपर चलकर सूर्य विचरते है, उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा विचरते है, उससे चार योजन ऊपर चलकर नक्षत्र विचरते है, उससे चार योजन ऊपर चलकर बुध, उससे तीन योजन ऊपर चलकर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर चलकर बृहस्पति, उससे तीन योजन ऊपर चलकर मङ्गल, और उससे तीन योजन ऊपर चलकर शनि ग्रह विचरते है। ये ज्योतिष्क देव मध्यलोकमे घनोदधि वातवलय तक फैले हुए है ॥२२२–२२४॥

वैमानिक देवोंके निवासका वर्णन

ये तु वैमानिका देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति ते।
उपर्युपरि तिष्ठत्सु विमानप्रतरेष्विह ॥२२५॥
अर्द्धभागे हि लोकस्य त्रिषष्टिः प्रतराः स्मृताः।
विमानैरिन्द्रकैर्युक्ताः श्रेणीबद्धैः प्रकीर्णकैः ॥२२६॥
सौधर्मैशानकल्पौ द्वौ तथा सानत्कुमारकः।
माहेन्द्रश्च प्रसिद्धौ द्वौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावुभौ ॥२२७॥
उभौ लान्तवकापिष्टौ शुक्रशुक्रौ महास्वनौ।
द्वौ सतारसहस्रारावानतप्राणतावुभौ ॥२२८॥

आरणाच्युतनामानौ द्वौ कल्पाश्चेति षोडश ।
ग्रैवेयाणि नवातोऽतो नवानुदिशचक्रकम् ॥२२९॥
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् ।
सर्वार्थसिद्धिरित्येषां पञ्चानां प्रतरोऽन्तिमः ॥२३०॥
एषु वैमानिका देवा जायमानाः स्वकर्मभिः ।
द्युतिलेश्याविशुद्ध्यायुरिन्द्रियावधिगोचरैः ॥२३१॥
तथा सुखप्रभावाभ्यामुपर्युपरितोऽधिकाः ।
हीनास्तथैव ते मानगतिदेहपरिग्रहैः ॥२३२॥
इति संसारिणां क्षेत्रं सर्वलोकः प्रकीर्तितः ।
सिद्धानां तु पुनः क्षेत्रमूर्द्ध्वलोकान्त इष्यते ॥२३३॥

अर्थ—जो वैमानिक देव है वे ऊर्ध्वलोकमें ऊपर-ऊपर स्थित विमानोके पटलोमे निवास करते है। ऊर्ध्वलोकमें त्रेशठ पटल है जो कि इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक इन तीन प्रकारके पटलोसे युक्त है। सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन आठ युगलोके सोलह कल्प है। इनके आगे ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयकोके नौ पटल है, उनके ऊपर नौ अनुदिश विमानोंका एक पटल है, और इसके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोका एक पटल है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार वैमानिक देव इनमें उत्पन्न होते है। ये वैमानिक देव द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, आयु, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञानका विषय, सुख और प्रभावसे ऊपर-ऊपर अधिकताको लिये हुए है और मान, गति, देह तथा परिग्रहकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर हीनताको लिये हुए है। इस तरह यह समस्त लोक ससारी जीवोंका क्षेत्र कहा गया है। सिद्ध जीवोंका क्षेत्र लोकका अन्तभाग माना गया है।

भावार्थ—जिनमें रहनेवाले अपने आपको विशिष्ट पुण्यवान् माने वे विमान कहलाते है, इन विमानोंमें जिनका निवास है वे वैमानिक कहलाते है। वैमानिक देवोंके कल्पवासी और कल्पातीतकी अपेक्षा दो भेद है। जिनमें इन्द्र आदि भेदोंकी कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्ग कल्प कहलाते हैं तथा जिनमें इन्द्र आदिकी कल्पना नही होती—सब एक समान होते हैं वे ग्रैवेयकों, अनुदिशों और अनुत्तरोंके विमान कल्पातीत कहलाते हैं। सोलह स्वर्गोंके देव कल्पोपपन्न और उनके आगेके कल्पातीत कहलाते हैं। सोलह स्वर्ग, सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र,

इत्यादि है। इन सोलह स्वर्गोंके ५२ पटल हैं। उनके आगे ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयकोंके नौ पटल हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिशोंका एक पटल है और उसके ऊपर पाँच अनुत्तर विमानोंका एक पटल है। इन सबके मिलाकर त्रेशठ पटल हैं—उनमें इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और विप्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारके विमान हैं। बीचके इन्द्रक विमान कहलाते है, उनके उत्तर, दक्षिण और पूर्व, पश्चिममें पंक्तिबद्ध विमान श्रेणीबद्ध कहलाते है और उनके बीचमे प्रक्षिप्त पुष्पोंके समान स्थित विमान प्रकीर्णक कहलाते है। पूर्व भवमें जो जीव जैसा कर्म करते हैं उसीके अनुसार वे इन विमानोंमें उत्पन्न होते हैं। सामान्यरूपसे कल्पोपपन्न और कल्पनातीत देवोंको वैमानिक देव कहते है। इन वैमानिक देवोंकी कान्ति, लेश्याकी विशुद्धता, आयु, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञानका विषय, सुख और प्रभाव ऊपर-ऊपर अधिक होता जाता है तथा अभिमान, गति, देह और परिग्रह ऊपर-ऊपर कम होता जाता है। नीचेके स्वर्गोंमे रहनेवाले देवोंको जितना अभिमान है उपरितन स्वर्गोंके देवोंका अभिमान उससे कम होता जाता है। गति भी उत्तरोत्तर कम होती जाती है, यहाँ तक कि सोलह स्वर्गके आगेके देव अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र गमन नही करते। शरीरको ऊँचाई भी ऊपर-ऊपर कम होती जाती है। देवोंकी आयु और शरीरकी अवगाहनाका वर्णन पहले आ चुका है। परिग्रह भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यह समस्त लोक संसारी जीवोंका क्षेत्र कहलाता है। सिद्ध जीवोंका क्षेत्र ऊर्ध्वलोकके अन्तमें है अर्थात् लोकान्तमें तीन कोशका धनोदधिवातवलय, दो कोशका घनवातवलय और पन्द्रहसौ पचहत्तर धनुषका तनुवातवलय है। इस तनुवात वलयके अन्तिम पाँचसौ पच्चीस योजनका क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। इसीमें सिद्धोका निवास है॥ २२५–२३३॥

जीवोंके भेद

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा।
स एवासिद्धनोसिद्धसिद्धत्वात् कीर्त्यते त्रिधा॥२३४॥
श्वाभ्रतिर्यग्नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः।
प्रशमक्षयतद्द्वन्द्वपरिणामोदयोद्भवात्॥२३५॥
भावात्पञ्चविधत्वात् स पञ्चभेदः प्ररूप्यते।
षड्मार्गगमनात्षोढा सप्तधा सप्तभङ्गतः॥२३६॥
अष्टधाष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मवृतोऽपि च।

पदार्थनवकात्मत्वान्नवधा दशधा तु सः।
दशजीवभिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम् ॥२३७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—सामान्यकी अपेक्षा जीव एक प्रकारका है, बद्ध और मुक्तकी अपेक्षा दो प्रकारका है, असिद्ध, नोसिद्ध—जीवन्मुक्त—अरहंत और सिद्धकी अपेक्षा तीन प्रकारका है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे चार प्रकारका है, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, परिणाम और उदयसे होनेवाले भावोंसे पञ्चरूप होनेके कारण पाँच प्रकारका है, चार दिशाओं और ऊपर, नीचे इस तरह छह दिशाओमे गमन करनेके कारण छह प्रकारका है, स्यादस्ति, स्यात् नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्याद्नास्तिअवक्तव्य और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात भङ्गरूप होनेसे सात प्रकारका है, ज्ञानादि आठगुणोसे तन्मय होनेके कारण आठ प्रकारका है, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थरूप होनेसे नौ प्रकारका है तथा जीवसमासके प्रकरणमें कहे गये दश भेदरूप होनेसे दश प्रकारका है। इस तरह आगमके अनुसार और भी भेदोका विचार किया जा सकता है॥ २३४–२३७॥

जीवतत्त्वकी श्रद्धा आदिसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

इत्येतज्जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥२३८॥

अर्थ—इस तरह शेष छह तत्त्वोके साथ जो जीवतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उससे उपेक्षा कर चारित्र धारण करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है॥ २३८॥

इस तरह श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

●

तृतीयाधिकार

(अजीवाधिकार)

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानजीवः संप्रचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—अनन्तकेवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनों जगत्को प्रकाशित करनेवाले समस्त अरहन्तोंको नमस्कार कर अजीवतत्त्वका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

पाँच अजीवोंके नाम

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः ।
अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥२॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच अजीव सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहे गये है ॥ २ ॥

छह द्रव्योंका निरूपण

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः ।
षड् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥३॥

अर्थ—ये धर्मादिक पाँच अजीव और जिनका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जीव ये छह, द्रव्यके यथार्थस्वरूपको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा द्रव्य कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चास्तिकायका वर्णन

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः ।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः ॥४॥

अर्थ—कालके विना शेष पाँच द्रव्य, प्रदेशोंकी अधिकताके कारण जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा अस्तिकाय कहे गये हैं ॥ ४ ॥

द्रव्यका लक्षण

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥५॥

अर्थ—वीतराग जिनेन्द्र भगवान्, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त अथवा गुण और पर्यायोंसे युक्त पदार्थको द्रव्य कहते है ॥ ५ ॥

उत्पादका लक्षण

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च ।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः ॥६॥

अर्थ—अपनी जातिको नही छोडेते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्यको जो अन्य पर्यायकी प्राप्ति होती है वह उत्पाद कहलाता है ॥ ६ ॥

व्ययका लक्षण

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि ।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते ॥७॥

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए चेतन अचेतन द्रव्यकी पूर्व-पर्यायका जो नाश है वह व्यय कहलाता है ॥ ७ ॥

ध्रौव्यका लक्षण

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते ।
अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः ॥८॥

अर्थ—अनादि स्वभावके कारण द्रव्यमें जो उत्पाद और व्ययका अभाव है उसे जिनेन्द्रभगवान् ध्रौव्य कहते हैं ॥ ८ ॥

गुण और पर्यायका लक्षण

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥९॥

अर्थ—द्रव्यकी जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्यका जो विकार है वह पर्याय कहलाता है। द्रव्य उन दोनों—गुणपर्यायोंका अपृथक् सिद्ध समुदाय है ॥ ९ ॥

गुण और पर्यायके पर्यायवाचक शब्द

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः ।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥१०॥

अर्थ—सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं तथा व्यतिरेक, विशेष और भेद ये पर्याय शब्द कहे गये हैं ॥ १० ॥

गुण और द्रव्यमें अभेद है

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥११॥

अर्थ—गुणोंके विना द्रव्य और द्रव्यके विना गुण नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुणोंमें अभेद है ॥ ११ ॥

द्रव्य और पर्यायकी अभिन्नता

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥१२॥

अर्थ—पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय नहीं होती, इसलिये महर्षि दोनोंमें अभिन्नता कहते हैं ॥ १२ ॥

पर्याय ही उत्पाद तथा व्ययके करनेवाले हैं

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥१३॥

अर्थ—सत्का नाश और असत्की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्याय ही पर्यायों और गुणोंमे व्यय तथा उत्पादको करते हैं।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टिसे किसी पदार्थका न नाश होता है और न किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, सिर्फ पर्याय ही नष्ट होती तथा उत्पन्न होती है, इस तरह उत्पाद और व्ययका कर्ता पर्याय ही है ॥ १३ ॥

द्रव्योंकी नित्यताका वर्णन

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत् ।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते ॥१४॥

अर्थ—ये द्रव्य नित्य है क्योंकि अपने स्वभावसे नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञानका कारण कहा जाता है।

भावार्थ—'यह वही है जो पहले था' इस प्रकारके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। द्रव्योकी पर्यायोंके बदल जानेपर भी उनमें प्रत्यभिज्ञान होता रहता है इसलिये द्रव्य नित्य कहलाती है। 'नित्य तदेवेदमिति प्रतीते' द्रव्य नित्य है क्योंकि उसमें 'यह वही है, ऐसी प्रतीति होती रहती है, ऐसा समन्तभद्रस्वामीने भी कहा है॥ १४॥

द्रव्योंके अवस्थितपनेका वर्णन

इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जातुचित्।
अवस्थितत्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः॥१५॥

अर्थ—क्योंकि ये द्रव्य कभी भी 'छह है' इस सीमाका उल्लङ्घन नहीं करते इसलिये जिनेन्द्र भगवान् उनके अवस्थितपनेको कहते है॥ १५॥

द्रव्योंके रूपी और अरूपीपनेका वर्णन

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः।
पञ्च द्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः॥१६॥

अर्थ—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धका अत्यन्त अभाव होनेसे पाँच द्रव्य अरूपी है और उनके सद्भावसे पुद्गल द्रव्य रूपी हैं॥ १६॥

द्रव्योंकी संख्याका वर्णन

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते।
कालपुद्गलजीवानामनेकद्रव्यता मता॥१७॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक है तथा काल, पुद्गल और जीवद्रव्योंमे अनेकता मानी गई है।

भावार्थ—कालद्रव्य असख्यात है, जीव अनन्त है और पुद्गल उनसे अनन्त है। धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक द्रव्य है॥ १७॥

द्रव्योंमें सक्रिय और निष्क्रियपनेका विभाग

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निःक्रियाः।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः॥१८॥

अर्थ—इन द्रव्योंमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय है तथा जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं ॥ १८ ॥

द्रव्योंके प्रदेशोंका वर्णन

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक् ॥१९॥
संख्येयाश्चाप्यसंख्येया अनन्ता यदि वा पुनः ।
पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते ॥२०॥
कालस्य परमाणोस्तु द्वयोरप्येतयोः किल ।
एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते ॥२१॥

अर्थ—एक जीवद्रव्य, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इनमें प्रत्येकके असख्यात-असंख्यात प्रदेश है। पुद्गल द्रव्यके प्रदेश सख्यात, असख्यात और अनन्त भी होते है। आकाशके प्रदेश अनन्त है। काल द्रव्य और परमाणु ये दोनो एकप्रदेशी है अत इन्हे प्रदेशरहित माना जाता है।

भावार्थ—पुद्गलका एक परमाणु आकाशके जितने भागको रोकता है उसे प्रदेश कहते है ॥ १९–२१ ॥

द्रव्योंके अवगाहका वर्णन

लोकाकाशेऽवगाहः स्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः ।
लोकालोकविभागः स्यादत एवाम्बरस्य हि ॥२२॥
लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
तिलेषु तैलवत्प्राहुरवगाहं महर्षयः ॥२३॥
संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत् ।
जीवस्तु तदसंख्येयभागादीनवगाहते ॥२४॥
लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः ।
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम् ॥२५॥
अवगाहनसामर्थ्यात्सूक्ष्मत्वपरिणामिनः ।
तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः ॥२६॥
एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात् ।
न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम् ॥२७॥

अल्पेधिकरणे द्रव्यं महीयो नावतिष्ठते ।
इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः ॥२८॥
अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः ।
पुद्गलानां बहूनां हि करीषपटलादिषु ॥२९॥

अर्थ—द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है, बाहर नही है। इसीसे आकाशमें लोक और अलोकका विभाग होता है। जितने आकाशमे सब द्रव्योंका अवगाह है उतना आकाश लोक कहलाता है और शेष अलोक कहलाता है। महर्षि, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका अवगाह तिलोंमे तैलके समान समस्त लोकाकाशमे कहते हैं। प्रदीपके समान प्रदेशोमे संकोच और विस्तार होनेके कारण जीव, लोकके असंख्येय भागको आदि लेकर समस्त लोकमे रहता है। पुद्गल द्रव्य, लोकाकाशके एक प्रदेशसे लेकर समस्त लोकाकाशमें स्थित है ऐसा सर्वज्ञ भगवान्का कथन है। दूसरे प्रदेशोके लिये स्थान देनेकी सामर्थ्य होनेसे सूक्ष्म परिणमन करनेवाले बहुत पुद्गल लोकाकाशके एक प्रदेशमें रह जाते है। एक घरमे अनेक दीपकोके प्रकाशकी स्थिति देखी जाती है इसलिये अवगाहन करनेवाले द्रव्योका क्षेत्र जुदा-जुदा नही होता और न उन द्रव्योमे एकरूपता आती है। "छोटे अधिकरणमे बहुत बड़ा द्रव्य नही रह सकता" ऐसा अज्ञानी जनोका कहना युक्तिको प्राप्त नही है क्योंकि छोटे क्षेत्रमें भी सन्निवेशकी विशेपतासे बहुतसे पुद्गलोंकी स्थिति देखी जाती है। जैसे गोबरके उपला आदिमे घूमके बहुतसे प्रदेशोकी स्थिति देखी जाती है॥ २२–२९ ॥

द्रव्योंके उपकारका वर्णन

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत् ।
उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः ॥३०॥
पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः ।
उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥३१॥
परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते ।
उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता ॥३२॥

अर्थ—इन द्रव्योमें धर्मद्रव्यका उपकार गति है, अधर्मद्रव्यका उपकार स्थिति है, आकाशद्रव्यका उपकार अवगाह—स्थान देना है, पुद्गल द्रव्यका उपकार शरीर, वचन, श्वासोच्छ्वास, मन, सुख, दुःख, जीवन तथा मरण है,

जीवोंका उपकार परस्पर एक दूसरेका उपकार करना है और काल-द्रव्यका उपकार वर्तना—द्रव्योंको वर्ताना है ॥ ३०–३२ ॥

धर्मद्रव्यका लक्षण

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम् ।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥३३॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे ।
जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ॥३४॥

अर्थ—स्वयं क्रियारूप परिणमन करनेवाले क्रियावान्—जीव और पुद्गलों-को जो सहायता देता है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार मछलीके चलनेमें जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंके चलनेमें धर्मद्रव्य साधारण निमित्त है ॥ ३३–३४ ॥

अधर्मद्रव्यका लक्षण

स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः ।
तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः ॥३५॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे ।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥३६॥

अर्थ—स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके लिये जो सहायता देता है उसे प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् अधर्मद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार गायोंके ठहरनेमें पृथिवी साधारण निमित्त है। उसी प्रकार स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके लिये अधर्म द्रव्य साधारण निमित्त है। यहाँ साधारण निमित्तका अभिप्राय यह है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं हैं ॥ ३६–३६ ॥

आकाशद्रव्यका लक्षण

आकाशन्तेऽत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेऽथवा ।
द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः ॥३७॥
जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः ।
अवगाहनहेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते ॥३८॥

अर्थ—जिसमें सब द्रव्य अवकाशको प्राप्त हैं, अथवा जो स्वयं अवकाशरूप

हो, अथवा जो सब द्रव्योंको अवकाश देता है उसे आकाश कहते हैं। यह आकाश जीव, पुद्गल, काल, धर्म और अधर्म द्रव्योंके अवगाहनमें हेतुपनेको प्राप्त होता है अर्थात् उन्हे अवगाहनमे सहायता करता है ।। ३७–३८ ।।

धर्म, अधर्म और आकाश स्वयं निष्क्रिय होकर भी क्रियामें हेतु हैं

क्रियाहेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते ।
यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम् ।।३९।।

अर्थ—ये धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य स्वय निष्क्रिय है फिर भी गति, स्थिति और अवगाहनमे हेतु पड़ते है इसमे बाधा नही आती, क्योकि यहाँपर इन द्रव्योंमे बलाधान मात्रकी विवक्षा है अर्थात् गति, स्थिति तथा अवगाहरूप परिणमन पदार्थ स्वय करते है, धर्मादिद्रव्य उनमे सिर्फ सहायता करते हैं। तात्पर्य यह है कि गति, स्थिति आदिके उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वयं है, धर्मादिद्रव्य उनमे निमित्तकारण पड़ते है ।। ३९ ।।

कालद्रव्यका लक्षण

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः ।
वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः ।।४०।।

अर्थ—काल वह कहलाता है जिसके निमित्तसे परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व होते है। विद्वान् लोग वर्तनाको कालका लक्षण कहते है ।। ४० ।।

वर्तनाका लक्षण

अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम् ।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना ।।४१।।

अर्थ—प्रत्येक द्रव्यके एक-एक समयवर्ती परिणमनमे जो स्वसत्ताकी अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते है ।।४१।।

कालद्रव्यकी हेतुकर्तृताका वर्णन

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः ।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ।।४२।।

अर्थ—सब द्रव्ये, अपनी-अपनी पर्यायोरूप परिणमन स्वय करती है फिर भी वर्तनाका करण होनेसे काल द्रव्य हेतुकर्तृताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यद्यपि अपने-अपने परिणमनका उपादान कारण सब द्रव्यें स्वयं है तथापि कालद्रव्य उसमें सहायक होनेसे हेतुकर्ता कहलाता है ।। ४२ ।।

कालद्रव्यकी हेतुकर्तृताका समर्थन

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते ।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥४३॥

अर्थ—यद्यपि कालद्रव्य स्वयं निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरुद्ध नहीं है क्योकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' कण्डेकी आग पढ़ाती है, यहाँ अग्नि स्वयं निष्क्रिय होकर भी पढ़ानेमें निमित्त मानी जाती है उसी प्रकार कालद्रव्य स्वयं निष्क्रिय होकर भी पदार्थोंके परिणमनमें निमित्त—हेतुकर्ता माना जाता है ॥ ४३ ॥

कालाणु किस प्रकार कहाँ स्थित हैं ?

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः ॥४४॥

अर्थ—उस काल द्रव्यके क्रियारहित प्रत्येक अणु रत्नोंकी राशिके समान लोकाकाशके प्रदेशोंपर एक-एक कर स्थित हैं।

भावार्थ—कालद्रव्य एकप्रदेशी है इसलिये उसे अणुरूप कहा जाता है। उन अणुरूप कालद्रव्योंकी संख्या असंख्यात है। आगममें लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या भी असंख्यात बतलाई गई है। इस तरह लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है, यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसके लिये रत्नराशिका दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार राशिमें स्थित रत्न एक दूसरे रत्नोंसे स्पृष्ट होनेपर भी स्वतन्त्र हैं उसी प्रकार कालद्रव्य भी परस्पर एक दूसरे कालद्रव्यसे स्पृष्ट होनेपर भी स्वतन्त्र हैं। कालाणुको स्वतन्त्र इसलिये कहा जाता है कि वह जितना भी है उतना अपना कार्य करनेमें समर्थ रहता है उसके लिये दूसरे कालद्रव्यकी सहायता अपेक्षित नही रहती। मनुष्यके हाथमें पाँच अगुलियाँ है परन्तु भोजनका ग्रास उठानेमे पाँचों अंगुलियाँ एक-एक कर समर्थ नही है उसके लिये पाँचों अंगुलियोंका मिलना आवश्यक रहता है इसलिये हाथ अवयवी है और अंगुलियाँ अवयव कहलाती हैं। अवयवीका एक अवयव कार्य करनेमें असमर्थ रहता है। यह बात कालद्रव्यमें नही है क्योंकि वह अपना कार्य करनेमें अलग रहकर भी समर्थ है। यही कारण है कि कालद्रव्यको बहुप्रदेशी नहीं माना गया है ॥ ४४ ॥

व्यवहारकालके परिचायक लिङ्ग

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः ॥४५॥

अर्थ—परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्वको महर्षियोंने व्यावहारिक कालका लिङ्ग—परिचायक चिह्न कहा है।

भावार्थ—कालद्रव्य अरूपी द्रव्य है अतः उसका बोध पुद्‌गलद्रव्यके माध्यमसे होता है। पुद्‌गल द्रव्यमें परिणाम, क्रिया तथा परत्व और अपरत्वका जो व्यवहार होता है वह मूर्तिक होनेके कारण सबको दृष्टिमें आता है इसलिये आचार्योंने इन्हींके द्वारा व्यवहारकालका बोध कराया है। यह परिणाम तथा क्रिया आदिरूप परिणमन वास्तवमें पुद्‌गलद्रव्यका है परन्तु उसमें कालद्रव्य निमित्त होता है इसलिये परिणाम आदिको कालद्रव्यका लिङ्ग बतलाया गया है ॥ ४५॥

परिणामका लक्षण

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः ।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः ॥४६॥

अर्थ—अपनी जातिका विरोध न करते हुए वस्तुका जो विकार है—परिणमन है उसे जिनेन्द्रभगवान्‌ने परिणाम कहा है। यह परिणाम हलन-चलनरूप नहीं होता।

भावार्थ—जो पदार्थ जिस रूप है उसका उसी रूप जो परिणमन होता है वह परिणाम कहलाता है। इस परिणाममें हलन-चलनरूप क्रियाकी विवक्षा नहीं है। उसका वर्णन पृथक् किया जाता है। वास्तवमें क्रियारूप परिणमन जीव और पुद्‌गल इन दो द्रव्योंमें ही होता है परन्तु परिणामरूप परिणमन सभी द्रव्योंमें होता है ॥ ४६ ॥

क्रियाका लक्षण

प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते ।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया ॥४७॥

अर्थ—प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तोंसे द्रव्यमें जो हलन-चलनरूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिये।

भावार्थ—क्रियाके दो भेद हैं—१ प्रायोगिकी और २ वैस्रासिकी। मनुष्यादिके प्रयत्नसे रेल, मोटर आदिमें जो क्रिया होती है उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं

और मेघ आदिमें जो अपने आप क्रिया होती है उसे वैस्रसिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया यद्यपि जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें होती है अत: उन्हींका परिणमन है परन्तु उस परिणमनमें जो क्रम है वह कालद्रव्यकृत है इसलिये क्रियाको कालद्रव्यका कार्य बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्रिया तो धर्मद्रव्यका कार्य है न कि कालद्रव्यका। उसका उत्तर यह है कि एक स्थानसे अन्य स्थानकी प्राप्तिरूप जो क्रिया है वह धर्मद्रव्यका कार्य है परन्तु उस क्रियामें जो क्रमबद्धता है वह कालका कार्य है ॥ ४७ ॥

परत्व और अपरत्वका लक्षण

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता ।
ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह ॥४८॥

अर्थ—दूरीको परत्व और निकटताको अपरत्व कहते हैं। यहाँ कालद्रव्यका प्रकरण होनेसे दूरी और निकटता कालकृत ही ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीप निकट है और नन्दीश्वर द्वीप दूर है इसलिये धातकीखण्ड द्वीप अपर है तथा नन्दीश्वर द्वीप पर है। इस प्रकार क्षेत्रकृत परत्व अपरत्व भी होते है। परन्तु उनकी यहाँ विवक्षा नही है। यहाँ कालद्रव्यका प्रकरण होनेसे कालकृत परत्व और अपरत्वको लिया गया है। जैसे यज्ञदत्त बीस वर्षका है, और जिनदत्त पन्द्रह वर्षका है। यहाँ जिनदत्तकी अपेक्षा यज्ञदत्तमें परत्व है और जिनदत्तमें अपरत्व है। यज्ञदत्त बड़ा कहा जाता है और जिनदत्त छोटा। यह व्यवहार कालद्रव्यकृत है ॥ ४८ ॥

व्यवहारकालका विभाग मनुष्यक्षेत्रमें होता है

ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो मनुष्यक्षेत्रवर्त्यसौ ।
यतो न हि बहिस्तस्माज्ज्योतिषां गतिरिष्यते ॥४९॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवोंकी गतिसे विभक्त होनेवाला यह व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है क्योंकि उससे बाहर ज्योतिष्क देवोंमें गति नहीं मानी जाती है।

भावार्थ—घड़ी, घंटा, दिन, पक्ष, माह, वर्ष आदिका व्यवहार सूर्यकी गतिसे होता है। सूर्यकी गति मनुष्यक्षेत्रमें ही होती है। इसलिए घड़ी, घंटा आदिका व्यवहार भी मनुष्यक्षेत्रमें ही माना जाता है। मनुष्यक्षेत्रके आगे असंख्यात द्वीप, समुद्रों तथा स्वर्ग नरक आदिमें कालद्रव्यकृत जो परिणमन है उसमें घड़ी, घंटा आदिका व्यवहार नहीं होता है। देवों तथा नारकियों आदिकी आयुका

जो वर्णन है वह मनुष्यक्षेत्रमें होनेवाले व्यवहारकालपर अवलम्बित माना जाता है ॥ ४९ ॥

कालके भेद

भूतश्च वर्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा ।
परस्परव्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः ॥५०॥

अर्थ—वह काल भूत, वर्तमान और भविष्यतके भेदसे तीन प्रकारका होता है क्योंकि परस्परकी अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार अनेक प्रकारका होता है ॥५०॥

दृष्टांतद्वारा कालके तीन भेदोंका समर्थन

यथानुसरतः पङ्क्ति बहूनामिह शाखिनाम् ।
क्रमेण कस्यचित् पुंस एकैकानोकहं प्रति ॥५१॥
संप्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेश प्रजायते ।
द्रव्याणामपि कालाणूंस्तथानुसरतामिमान् ॥५२॥
पर्यायं चानुभवतां वर्तनाया यथाक्रमम् ।
भूतादिव्यवहारस्य गुरुभिः सिद्धिरिष्यते ॥५३॥
भूतादिव्यपदेशोऽसौ मुख्यो गौणो ह्यनेहसि ।
व्यवहारिककालोऽपि मुख्यतामादधात्यसौ ॥५४॥

अर्थ—जैसे बहुतसे वृक्षोंकी पङ्क्ति लगी हुई है। कोई मनुष्य एक-एक वृक्षके प्रति क्रमसे गमन करता हुआ उस पङ्क्तिको पार कर रहा है। वह मनुष्य किसी वृक्षके पास पहुँचता है, किसीको छोडकर आया है और किसीको आगे प्राप्त करनेवाला है। इस तरह क्रमपूर्वक गति होनेसे उन वृक्षोमे भूत, वर्तमान और भविष्यत्का व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार कालाणुओका अनुसरण करने तथा पर्यायोंका अनुभव करनेवाली द्रव्योंमें क्रमपूर्वक वर्तना होनेसे भूत आदि व्यवहारकी सिद्धि गुरुजनों द्वारा मानी जाती है। चूँकि यह भूत आदिका व्यपदेश निश्चयकालद्रव्यमें मुख्य और गौण होता है इसलिए यह व्यवहार काल भी मुख्यता और गौणताको धारण करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार पङ्क्तिबद्ध वृक्षोको क्रम-क्रमसे पार करनेवाला मनुष्य जिस वृक्षके पास पहुँचता है उसमें वर्तमानका, जिसे छोडकर आया है उसमें भूतका और जिसे आगामी कालमें प्राप्त करेगा उसमें भविष्यत्का व्यवहार होता है। उसी प्रकार क्रम-क्रमसे परिणमन करनेवाले द्रव्य जिस कालाणुका

वर्तमानमें अवलम्बन ले रहे हैं उसमें वर्तमानका जिनका अवलम्बन ले चुके हैं उनमें भूतका और जिनका अवलम्बन आगे लेवेंगे उनमें भविष्यत्का व्यवहार होता है। कालाणु अपने-अपने स्थानोंपर स्थित हैं उनका निमित्त पाकर संसारके पदार्थोंमें परिणमन चल रहा है। जो कालाणु किसी द्रव्यके परिणमनमें निमित्त हो चुकनेसे भूतका व्यवहार प्राप्त करता है वही कालाणु किसी अन्य द्रव्यके परिणमनमे आगे निमित्त होनेके कारण भविष्यत्का व्यवहार प्राप्त करता है तथा किसी अन्य द्रव्यके वर्तमान परिणमनमें निमित्त होनेके कारण वही वर्तमानका व्यवहार करता है। इस प्रकार कालाणुमें यह भूत, भविष्यत् और वर्तमानका व्यवहार मुख्य तथा गौणरूपसे चलता रहता है। जब निश्चयकालद्रव्यमें यह मुख्य गौणसे भूतादिका व्यपदेश चलता है तब उसके आश्रयसे होनेवाले व्यवहार कालमें भी मुख्य गौणका व्यपदेश अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ ५१–५४ ॥

पुद्गलका लक्षण

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि ।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥५५॥

अर्थ—भेद आदिके निमित्तसे जिनमें पूरण—नये परमाणुओंका सयोग और गलन—सयुक्त परमाणुओका वियोग होता है उन्हे पुद्गलोंके स्वभावके ज्ञाता पुरुष पुद्गल कहते है ॥ ५५ ॥

पुद्गलोंके भेद

अणुस्कन्धविभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः ।
स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत् ॥५६॥

अर्थ—अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारके है। और स्कन्ध, देश तथा प्रदेशके भेद स्कन्ध तीन प्रकारका है ॥ ५६ ॥

स्कन्ध, देश और प्रदेशके लक्षण

[१]अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते ।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥५७॥

अर्थ—अनन्त परमाणुओंका समूह स्कन्ध कहलाता है। स्कन्धका आधा देश और देशका आधा प्रदेश कहा गया है ॥ ५७ ॥

---

१ खंधं सलयसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥ ६०३ ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

स्कन्ध और अणुकी उत्पत्तिके कारण

भेदात्तथा च संघातात्तथा तदुभयादपि ।
उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः ॥५८॥

अर्थ—भेदसे, संघातसे, और भेद संघात–दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। परन्तु अणु भेदसे ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—कितने ही स्कन्धोकी उत्पत्ति भेदसे होती है। जैसे १०० परमाणु वाले स्कन्धसे १० परमाणु निकल जानेपर ९० परमाणु वाले स्कन्धकी उत्पत्ति हुई। कितने ही स्कन्धोको उत्पत्ति सघातसे होती है। जैसे १०० परमाणुवाले स्कन्धमें १० परमाणु मिल जानेसे ११० परमाणुवाले स्कन्धकी उत्पत्ति हुई। और कितने ही स्कन्धोकी उत्पत्ति भेद तथा संघात दोनोंसे होती है। जैसे १०० परमाणुवाले स्कन्धमेंसे १० परमाणु निकल जाने और १५ परमाणु मिल जानेसे १०५ परमाणुवाले स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। परमाणुकी उत्पत्ति संघातसे न होकर भेदसे ही होती है। जैसे दो परमाणुवाले स्कन्धमें भेद होनेसे दो परमाणुओंकी उत्पत्ति हुई ॥ ५८ ॥

परमाणुका लक्षण

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः ।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते ॥५९॥

अर्थ—वही जिसका आदि है, वही जिसका मध्य है, वही जिसका अन्त है, इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण नही होता तथा जिसके अन्य विभाग नही हो सकते वह परमाणु कहा जाता है।

भावार्थ—एकप्रदेशी होनेसे जिसमे आदि, मध्य और अन्तका विभाग नही हो सकता, जिसके द्वितीयादिक विभाग नही हो सकते और जो इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियोंके द्वारा नही जाना जा सकता वह परमाणु कहलाता है ॥ ५९ ॥

परमाणुकी अन्य विशेषता

सूक्ष्मो नित्यस्तथान्तश्च कार्यलिङ्गस्य कारणम् ।
एकगन्धरसश्चैकवर्णो द्विस्पर्शकश्च सः ॥६०॥

---

१ अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥ (पञ्चास्तिकाय)

वर्णगन्धरसस्पर्शसंयुक्ताः परमाणवः ।
स्कन्धा अपि भवन्त्येते वर्णादिभिरनुज्झिताः ॥६१॥

अर्थ—वह परमाणु सूक्ष्म होता है, नित्य होता है, अन्तिम होता है, कार्यलिङ्गका कारण होता है, एक गन्ध, एक रस, एक वर्ण और दो स्पर्शोंसे युक्त होता है। परमाणु, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त स्कन्ध भी बन जाते हैं अथवा भेद अवस्थाको पाकर स्कन्ध भी परमाणुरूप हो जाते है।

भावार्थ—परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इतना सूक्ष्म कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा उसका साक्षात् अवलोकन नही हो सकता। परमाणुका कभी नाश नहीं होता इसलिये वह नित्य कहलाता है। स्कन्धके भेद होते-होते अन्तमे परमाणुरूप ही अवस्था होती है इसलिये उसे अन्त्य कहा है। दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक स्कन्धके कारण होते है, इसलिए इसे कार्यलिङ्गका कारण कहा जाता है। एकप्रदेशी होनेसे परमाणुमे एक गन्ध, एक रस और एक वर्ण होता है। आठ स्पर्शोंमेंसे कोमल, कड़ा, हलका और भारी ये चार स्पर्श परमाणुमें सर्वथा नही होते, किन्तु शीत और उष्णमेसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मेंसे कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते है। परमाणु, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित है इसलिए उनसे जब स्कन्धकी उत्पत्ति होती है तब वे भी वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित होते हैं और चूँकि स्कन्ध वर्णादिसे सहित हैं इसलिए जब स्कन्ध वियुक्त होकर परमाणुरूप होते है तब वे भी वर्णादिसे सहित होते है ॥ ६०–६१ ॥

पुद्गलकी पर्यायोंका वर्णन

शब्द-संस्थान-सूक्ष्मत्व-स्थौल्य-बन्ध-समन्विता ।
तमश्छायातपोद्योतभेदवन्तश्च सन्ति ते ॥६२॥

अर्थ—वे पुद्गल शब्द, संस्थान, सूक्ष्मत्व, स्थौल्य, बन्ध, तम, छाया, आतप, उद्योत और भेदसे युक्त होते है ॥ ६२ ॥

शब्दके भेद

साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा ।
प्रायोगिको वैस्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोऽपि च ॥६३॥

अर्थ—शब्द भाषात्मक और अभाषात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें भाषात्मक शब्द साक्षर और अनक्षरके भेदसे दो प्रकारका है। संस्कृत, प्राकृतादि-भाषारूप जो शब्द है वे साक्षर शब्द कहलाते हैं तथा द्वीन्द्रियादिक जीवोंके

जो शब्द है वे अनक्षर शब्द है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेदसे दो प्रकारका होता है। मनुष्यके प्रयत्नसे उत्पन्न भेरी, वीणा, वांसुरी तथा घटा आदिका जो शब्द है वह वैस्रसिक है ॥ ६३ ॥

संस्थानके भेद

संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते ।
ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थंलक्षणं तथा ॥६४॥

अर्थ—संस्थानका अर्थ आकृति है। इसके दो भेद है—१ इत्थलक्षण और दो अनित्थलक्षण। कलश आदि पदार्थोका जो आकार कहा जा सकता है वह इत्थंलक्षण सस्थान है और मेघ आदिका जो आकार कहा नही जा सकता वह अनित्थलक्षण सस्थान है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मत्वके भेद

अन्त्यमापेक्षिकश्चेति सूक्ष्मत्वं द्विविधं भवेत् ।
परमाणुषु तत्रान्त्यमन्यद्बिल्वामलकादिषु ॥६५॥

अर्थ—सूक्ष्मत्व दो प्रकारका होता है—१ अन्त्य और २ आपेक्षिक। इनमेसे अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओमे होता है और दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व बेल तथा आँवला आदिमे पाया जाता है ॥ ६५ ॥

स्थौल्यके भेद

अन्त्यापेक्षिकभेदेन ज्ञेयं स्थौल्यमपि द्विधा ।
महास्कन्धेऽन्त्यमन्यच्च वदरामलकादिषु ॥६६॥

अर्थ—अन्त्य और आपेक्षिकके भेदसे स्थौल्य भी दो प्रकारका जानना चाहिये। अन्त्य स्थौल्य लोकरूप महास्कन्धमें होता है और आपेक्षिक स्थौल्य वैर तथा आवला आदिमे होता है।

बन्धके भेद

द्विधा वैस्रसिको बन्धस्तथा प्रायोगिकोऽपि च ।
तत्र वैस्रसिको वह्निविद्युदम्भोधरादिषु ।
बन्धः प्रायोगिको ज्ञेयो जतुकाष्ठादिलक्षणः ॥६७॥

(षट्पदम्)

कर्मनोकर्मबन्धो यः सोऽपि प्रायोगिको भवेत् ।

अर्थ—वैस्रसिक और प्रायोगिकके भेदसे बन्ध दो प्रकारका है। उनमेंसे मेघ आदिमें जो विजलीरूप अग्निका बन्ध है वह वैस्रसिक बन्ध है और लाख तथा लकड़ी आदिका जो बन्ध है वह प्रायोगिक बन्ध जाननेके योग्य है। इसके सिवाय कर्म और नोकर्मका जो बन्ध है वह भी प्रायोगिक बन्ध कहलाता है॥ ६७॥

तमका लक्षण

तमो दृक्प्रतिबन्धः स्यात् प्रकाशस्य विरोधि च ॥६८॥

अर्थ—जो नेत्रोंको रोकनेवाला तथा प्रकाशका विरोधी है वह तम—अन्धकार कहलाता है॥ ६८॥

छायाका लक्षण

प्रकाशावरणं यत्स्यान्निमित्तं वपुरादिकम्।
छायेति सा परिज्ञेया द्विविधा सा च जायते ॥६९॥
तत्रैका खलु वर्णादिविकारपरिणामिनी।
स्यात्प्रतिबिम्बमात्रान्या जिनानामिति शासनम् ॥७०॥

अर्थ—शरीर आदि निमित्तोंके कारण जो प्रकाशका रुकना है उसे छाया जानना चाहिये। वह छाया दो प्रकारकी होती है। उनमें एक छाया वर्णादि-विकाररूप परिणमने वाली है अर्थात् पदार्थ जिसरूप तथा जिस आकारवाला है उसका उसीरूप परिणमन होना जैसे दर्पण या पानी आदिमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। और दूसरी छाया मात्र प्रतिबिम्बरूप होती है। जैसे धूप या चाँदनी आदिमें मनुष्यकी छाया पड़ती है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌का कथन है॥६९–७०॥

आतप और उद्योतका लक्षण

आतपोऽपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्यकारणः।
उद्योतश्चन्द्ररत्नादिप्रकाशः परिकीर्तितः ॥७१॥

अर्थ—सूर्यके कारण जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है तथा चन्द्रमा और रत्न आदिका जो प्रकाश है वह उद्योत कहा गया है॥ ७१॥

भेदके भेद

उत्करश्चूर्णिका चूर्णः खण्डोऽणुचटनं तथा।
प्रतरश्चेति षड्भेदा भेदस्योक्ता महर्षिभिः ॥७२॥

अर्थ—उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतरके भेदसे महर्षियोंने भेदके छह भेद कहे है।

भावार्थ—करोत आदिके द्वारा लकड़ी आदिके चीरनेपर जो बुरादा निकलता है वह उत्कर कहलाता है। उडद तथा मूग आदिकी जो चुनी है उसे चूर्णिका कहते हैं। जौ तथा गेहू आदिका जो आटा है उसे चूर्ण कहते हैं। घट आदिके टुकडोको खण्ड कहते हैं। तपाये हुए लोहेपर घन पटकनेपर जो अग्निके कण निकलते है उन्हे अणुचटन कहते है। और मेघपटल आदिका विखरना प्रतर कहलाता है ॥ ७२ ॥

किन परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है ?

विसदृक्षाः सदृक्षा वा ये जघन्यगुणा न हि ।
प्रयान्ति स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धं ते परमाणवः ॥७३॥
संयुक्ता ये खलु स्वस्माद् द्वयाधिकगुणैर्गुणैः ।
बन्धः स्यात्परमाणूनां तैरेव परमाणुभिः ॥७४॥
बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोऽन्यस्य परिणामकः ।
रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्नगुडो यथा ॥७५॥

अर्थ—जो परमाणु तुल्यजातीय हो, चाहे अतुल्यजातीय, किन्तु जघन्यगुणवाले नही है वे स्निग्ध और रूक्षताके कारण बन्धको प्राप्त होते है। जो परमाणु अपनेसे दो अधिक गुणोसे सयुक्त है उन्ही परमाणुओके साथ परमाणुओंका बन्ध होता है। बन्ध होनेपर जो अधिक गुणवाला परमाणु है वह हीनगुणवाले परमाणु को अपनेरूप परिणमा लेता है। जैसे अधिक मिठाससे युक्त गीला गुड धूलिको अपनेरूप परिणमाता हुआ देखा गया है।

भावार्थ—परमाणुओंका जो परस्पर बन्ध होता है उसमे उनका स्निग्धता और रूक्षता गुण कारण पडता है। परमाणुमे जो स्निग्ध और रूक्षगुण है उसके अनन्त तक अविभाग प्रतिच्छेद या शक्तिके अश होते है। उन शक्तिके अंशोमें हानि-वृद्धिका क्रम चलता रहता है। हानि होते-होते जब एक ही शक्तिका अंश रह जाता है तब वह परमाणु जघन्यगुणवाला परमाणु कहलाने लगता है। ऐसे परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ बन्ध नही होता। इसी प्रकार जिन दो परमाणुओमे अविभाग प्रतिच्छेद समान सख्याको लिये हुए है उनका भी बन्ध नहीं होता। वृद्धिका क्रम चलनेपर जब जघन्यगुणवाले परमाणुके अविभाग प्रतिच्छेदोमें पुन· वृद्धि हो जाती है तब वह फिर वन्ध कोटिमे आ जाता है। इसी प्रकार जिन दो परमाणुओमे अविभागप्रतिच्छेदोंकी समानताके कारण बन्ध नही हो रहा था उनमे किसी एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदोंमे वृद्धि होकर

अथवा किसी एक परमाणुके अविभागप्रतिच्छेदोंमें ह्रास होकर यदि दो गुणोंकी हीनाधिकता हो जाती है तो वे भी बन्ध कोटिमे आजाते है। परमाणुओंका यह बन्ध अपनेंसे दो अधिक गुणवालोंके साथ बतलाया है। जैसे दो गुणवालेका चार गुणवालेके साथ और तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ बन्ध होता है। यह बन्ध स्निग्ध-स्निग्धका तथा रूक्ष-रूक्षका और स्निग्ध-रूक्षका भी होता है। बन्धके लिये सदृश जातीय ही हो ऐसा नियम नही है। किन्तु गुणोंकी अपेक्षा दो का अन्तर होना आवश्यक है। दोका अन्तर होनेपर भी एकगुणवाले और तीन गुणवाले परमाणुओंका बन्ध नही होगा, क्योकि उनमे एकगुणवाला परमाणु बन्धकी योग्यतासे रहित होगया है। बन्ध हो चुकनेपर अधिक गुणवाला परमाणु हीन गुणवाले परमाणुको अपनेरूप परिणमा लेता है। जैसे कि गीला गुड़ अपने साथ मिली हुई धूलिको अपनेरूप परिणमा लेता है ।। ७३–७५ ।।

पुद्गलकी बन्धपर्यायें अनन्त हैं

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा ।
सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्ययाः ।।७६।।

अर्थ—इस प्रकार द्व्यणुकको आदि लेकर जड़ महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलोकी अनेक प्रकारकी अनन्त बन्ध-पर्याये है ।। ७६ ।।

अजीव तत्त्वके श्रद्धानादिका फल

इतीहाजीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ।।७७।।

अर्थ—इस प्रकार इस लोकमें जो छह अन्य तत्त्वोंके साथ अजीव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसकी इष्टानिष्ट परिणतिमे राग-द्वेष नही करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्यद्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे अजीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

चतुर्थ अधिकार

(आस्रवतत्त्ववर्णनम्)

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः परिचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—जिन्होंने अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनों जगत्को प्रकाशित किया है उन समस्त अरहन्तोंको नमस्कारकर आस्रवका कथन किया जाता है ॥ १ ॥

आस्रवका लक्षण

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः ।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः ॥२॥
सरसः सलिलावाहिद्वारमत्र जनैर्यथा ।
तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥३॥
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका ।
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥४॥

अर्थ—काय, वचन और मनकी जो क्रिया है वह योग कहलाती है। जो योग है वही आस्रव है। शुभ और अशुभके भेदसे योगके दो भेद हैं। शुभयोग पुण्य कर्मका आस्रव है और अशुभ योग पाप कर्मका आस्रव है। जिस प्रकार तालाबमें पानी लानेवाला द्वार पानी आनेका कारण होनेसे मनुष्योंके द्वारा आस्रव कहा जाता है उसी प्रकार आत्माकी यह योगरूप प्रणाली भी कर्मास्रवका हेतु होनेसे जिनेन्द्रभगवान्के द्वारा आस्रव कही जाती है ॥ २-४ ॥

आस्रवके सांपरायिक और ईर्यापथ भेद

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम् ।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥५॥

साम्परायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत् ।
सकषायस्य यत्कर्मयोगानीतं तु मूर्च्छति ॥६॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुडयप्रक्षिप्तलोष्टवत् ।
अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्च्छति ॥७॥

अर्थ—जो जीव कषाय सहित है वे साम्परायिक कर्मका आस्रव करते है और जो उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीव है वे ईर्यापथ कर्मका आस्रव करते हैं। यह साम्परायिक आस्रव गीले चमड़ेपर स्थित धूलिके समान है। कषाय सहित जीवके योगोके कारण जो कर्म आते है वे वृद्धिको प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थिति और अनुभाग बन्ध पड़नेके कारण वे कर्म विस्तारको प्राप्त होते हैं। और जो ईर्यापथ आस्रव है वह सूखी दीवालपर फेंके हुए ढेलेके समान है। कषाय रहित जीवोके योगोंके कारण जो कर्म आते है वे वृद्धिको प्राप्त नही होते अर्थात् स्थिति और अनुभागबन्धके अभावमे वे विस्तारको प्राप्त नहीं होते। समयमात्रमें निर्जीर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—साम्परायिक और ईर्यापथके भेदसे आस्रवके दो भेद है। कषाय सहित जीवके आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते है और कषाय रहित जीवके आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते है। जिस प्रकार गीले चमडेपर धूलि जमकर बैठती है उसी प्रकार कषाय-सहित जीवके कर्म जमकर बैठते है अर्थात् उनका स्थिति और अनुभाग बन्ध अधिक होता है और सूखी दीवालपर फेंका हुआ ढेला जिस प्रकार दीवालका स्पर्श कर तत्काल उससे अलग हो जाता है उसी प्रकार कषाय रहित जीवके कर्म आत्माके साथ सम्बन्ध करते ही एक समयके भीतर अलग हो जाते हैं, उनमें स्थिति और अनुभागबन्ध नही पड़ता। प्रारम्भ-से लेकर दशम गुणस्थान तकके जीव कषाय सहित है इसलिये इनके साम्परायिक आस्रव होता है और ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तकके जीव कषाय रहित है इसलिये उनके ईर्यापथ आस्रव होता है। यद्यपि चौदहवे गुणस्थानके जीव भी कषाय रहित है तो भी योगोके न होनेसे उनके किसी भी कर्मका आस्रव नहीं होता ॥ ५–७ ॥

साम्परायिक आस्रवका कारण

चतुःकषायपञ्चाक्षैस्तथा पञ्चभिरव्रतैः ।
क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥८॥

अर्थ—चार कषाय, पांच इन्द्रिय, पॉच अव्रत और पच्चीस क्रियाओंके द्वारा यह जीव साम्परायिक आस्रव करता है।

भावार्थ—क्रोधादि चार कषायों, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों, हिंसा, झूठ आदि पाँच अव्रतों तथा सम्यक्त्व क्रिया आदि पच्चीस क्रियाओंके द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है। यहाँ पच्चीस क्रियाओंका स्वरूप लिखते हैं—

(१) **सम्यक्त्व क्रिया**—चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदिरूप सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्व क्रिया है।

(२) **मिथ्यात्व क्रिया**—अन्य देवताओंको नमस्कारादिरूप मिथ्यात्वको बढ़ानेवाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया है।

(३) **प्रयोग क्रिया**—शरीर आदिके द्वारा गमनागमनादि रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है।

(४) **समादान क्रिया**—सयमी जीवका फिरसे असयमकी ओर सम्मुख होना समादान क्रिया है।

(५) **ईर्यापथ क्रिया**—ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

(६) **प्रादोषिकी क्रिया**—क्रोधके आवेशसे होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है।

(७) **कायिकी क्रिया**—दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है।

(८) **आधिकरणिकी क्रिया**—हिंसाके उपकरण आदिको उठाना आधिकरणिकी क्रिया हे।

(९) **पारितापिकी क्रिया**—ऐसे शब्दादि कहना जिससे दूसरेको सताप हो पारितापिकी क्रिया है।

(१०) **प्राणातिपातिकी क्रिया**—प्राणघातरूप प्रवृत्ति करना प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(११) **दर्शन क्रिया**—रागसे आर्द्र चित्त हो स्त्री आदिके रमणीयरूपको देखनेका अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है।

(१२) **स्पर्शन क्रिया**—प्रमादके वशीभूत होकर स्त्री आदिके स्पर्श करनेका भाव होना स्पर्शन क्रिया है।

(१३) **प्रात्ययिकी क्रिया**—नये नये अधिकरणोंसे स्त्री आदिके हृदयमें अपने ऊपर प्रत्यय—विश्वास उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) **समन्तानुपात क्रिया**—स्त्री-पुरुषोके आने-जाने आदिके स्थानमें मलोत्सर्ग करना समन्तानुपात क्रिया है।

(१५) **अनाभोग क्रिया**—विना देखी, विना शोधा हुई भूमिपर शरीरादिको रखना—उठना बैठना आदि अनाभोग क्रिया है।

(१६) **स्वहस्त क्रिया**—दूसरेके द्वारा करने योग्य कार्यको लोभके वशीभूत होकर स्वय करना स्वहस्त क्रिया है!

(१७) **निसर्ग क्रिया**—पापादिमें प्रवृत्ति करनेके लिये सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

(१८) **विदारण क्रिया**—दूसरेके पापकार्यको प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(१९) **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया**—अपनी असमर्थताके कारण आगमकी आज्ञाका अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(२०) **अनाकांक्षा क्रिया**—धूर्त्तता और आलस्यके कारण आगम प्रतिपादित क्रियाओके प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है।

(२१) **प्रारम्भ क्रिया**—छेदना, भेदना आदि क्रियाओंमे स्वयं तत्पर होना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

(२२) **पारिग्राहिकी क्रिया**—परिग्रहकी रक्षा आदिके लिये जो क्रिया होती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है।

(२३) **माया क्रिया**—ज्ञान दर्शन आदिके विषयमे छलरूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है।

(२४) **मिथ्यादर्शन क्रिया**—मिथ्यादर्शनके साधनोंसे युक्त पुरुषकी प्रशंसा कर उसे मिथ्यात्वमें दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) **अप्रत्याख्यान क्रिया**—सयमघाती कर्मका उदय होनेसे त्यागरूप परिणाम नही होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

आस्रवमें होनेवाली विशेषताके कारण

तीव्रमन्दपरिज्ञातभावेभ्योऽज्ञातभावतः।
वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेषं विदुर्जिनाः ॥९॥

अर्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरणके द्वारा आस्रवकी विशेषताको जिनेन्द्रभगवान् जानते है ॥ ९ ॥

अधिकरणके भेद

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः।
त्रिःसंरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः ॥१०॥
कृतादिभिस्त्रिभिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः।
जीवाधिकरणस्येति भेदादष्टोत्तरं शतम् ॥११॥
संयोगौ द्वौ निसर्गास्त्रीन्निक्षेपाणां चतुष्टयम्।
निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु ॥१२॥

अर्थ—उन तीव्रादिक भावोंमें अधिकरणके दो भेद है—(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण। जीवाधिकरण आस्रव सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन, मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये तीन, कृत, कारित अनुमोदना ये तीन तथा क्रोधादि चार कपायके भेदसे एक सौ आठ प्रकारका है। और अजीवाधिकरण आस्रवके दो सयोग, तीन निसर्ग, चार निक्षेप और दो निर्वर्तना इस तरह ग्यारह भेद है।

भावार्थ—जीवाश्रित प्रवृत्तिकी विशेषतासे जो आस्रव होता है उसे जीवाधिकरण आस्रव कहते है। इसके एक सौ आठ भेद है, जो इस प्रकार सिद्ध होते हैं—सरम्भ—किसी कार्यके करनेका सकल्प करना, समारम्भ—कार्यके अनुकूल सामग्री जुटाना और आरम्भ—कार्य करने लगना ये तीन कार्य; मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग इन तीनोसे होते है, इसलिये तीनमे तीनका गुणा करनेसे नौ भेद होते है। ये नौ कार्य, कृत—स्वय करना, कारित—दूसरेसे कराना, अनुमोदन—किये हुएका समर्थन करना इन तीन कार्योसे होते है, इसलिये नौमे तीनका गुणा करनेपर सत्ताईस भेद होते है। ये सत्ताईस भेद क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोसे होते है इसलिये सत्ताईसमे चारका गुणा करनेपर एक सौ आठ भेद होते है। अजीवाश्रित प्रवृत्तिसे आस्रवमे जो विशेषता होती है उसे अजीवाधिकरण आस्रव कहते है। इसके ग्यारह भेद है जो इस प्रकार है—सयोगके दो भेद है—[१] भक्तपानसयोग—गर्म भोजनमे ढण्डा पानी आदि मिलाना, [२] उपकरण सयोग—धूपसे तपे हुए कमण्डलु आदिका शीतल पिछीसे परिमार्जन करना। निसर्गके तीन भेद है—[१] मनो निसर्ग—मनको विषयोमे स्वच्छन्द प्रवर्ताना, [२] वचो निसर्ग—अप्रिय कटुक आदि वचन बोलना [३] काय निसर्ग—शरीरकी प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति करना। निक्षेपके चार भेद है—[१] अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण—विना देखी हुई भूमिपर किसी वस्तुको रखना, [२] दु प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण—दुष्टतापूर्ण विधिसे प्रमार्जित भूमिमे किसी वस्तुको रखना, [३] सहसानिक्षेपाधिकरण—शीघ्रता पूर्वक किसी वस्तुको रखना और [४] अनाभोगनिक्षेपाधिकरण—किसी वस्तुको उसके रखने योग्य स्थानपर न रखकर प्रमादवश इधर-उधर रखना। निर्वर्तनाके दो भेद है—[१] मूलगुणनिर्वर्तना—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति करना [२] उत्तरगुणनिर्वर्तना—लकड़ी तथा मिट्टी आदिके खिलौने तथा चित्र आदिकी रचना करना ॥ १०-१२ ॥

ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके हेतु

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा।

आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ।।१३।।
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः ।
बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ।।१४।।
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता ।
श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम् ।।१५।।
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता ।
इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ।।१६।।

अर्थ—मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, ज्ञानका आसादन, उपघात, आगमविरुद्ध बोलना, अनादरपूर्वक अर्थका सुनना, आलस्य, शास्त्र वेचना, अपनेको बहुज्ञानी मानकर मिथ्या उपदेश देना, अकालमें अध्ययन करना, आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना, धर्मकी आम्नायमे रुकावट डालना, बहुज्ञानी जीवोका तिरस्कार करना और ज्ञानाध्ययनकी कुशलतासे धूर्त्तताका का व्यवहार करना ये सब ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके हेतु हैं।

भावार्थ—मात्सर्य आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—

मात्सर्य—किसी कारणसे जिसका अभ्यास भी किया है तथा जो देनेके योग्य भी है ऐसे विज्ञानका ईर्ष्यावश दूसरेको न देना मात्सर्य है।

अन्तराय—ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय है।

प्रदोष—मोक्षके साधनस्वरूप तत्त्वज्ञानका उपदेश होनेपर मुखसे विरोध न करनेपर भी अन्तरङ्गमें उस ओर दुष्टताका भाव होना प्रदोष कहलाता है।

निह्नव—किसी कारणसे 'ऐसा नही है', 'मै नहीं जानता हूं' ऐसा कहकर ज्ञानको छिपाना निह्नव है।

आसादन—दूसरेके द्वारा प्रकाशमें आनेवाले ज्ञानका शरीर और वचनसे निषेध करना आसादन है।

उपघात—निर्दोष ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। शेष शब्दोंके अर्थ स्पष्ट है ।। १३-१६ ।।

दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निह्नवोऽपि च ।
मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा ।।१७।।
नयनोत्पादनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा ।

नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणम् तथा ॥१८॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम् ।
दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥१९॥

अर्थ—दर्शनके विषयमें अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, उपघात और आसादन करना, नेत्रोंका उखाड़ना, बहुत काल तक सोना, दिनमें सोना, नास्तिकताका भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीवमें दूषण लगाना, कुगुरुओंकी प्रशंसा करना और समीचीन तपस्वी-गुरुओंसे ग्लानि करना दर्शनावरण कर्मके आस्रव हैं ॥ १७-१९ ॥

असातावेदनीय कर्मके आस्रवके हेतु

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम् ॥२०॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विशंसनं[1] तथा ॥२१॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम् ॥२२॥
शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम् ।
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा ॥२३॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा ।
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥२४॥

अर्थ—पराये, अपने तथा दोनोंमें स्थित दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन और परिदेवन तथा दूसरेकी चुगली, छेदना, भेदना, ताड़ना, दमन करना, डाँटना, झिडकना, शीघ्रतासे (अपराधका विचार किये बिना ही) घात करना, पापकार्योंसे जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, सांकल, जाल, पाश, रस्सी तथा जाल आदिका बनाना, धर्मका विध्वंस करना, धर्मके कार्योंमे विघ्न करना, तवस्विजनोंकी निन्दा करना और शीलव्रतसे च्युत करना ये सब असातावेदनीयके आस्रवके हेतु हैं ।

---

१. सद्यो विश्वसनं तथा इत्यपि पाठ ।

भावार्थ—दुःख आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—

दुःख—पीड़ारूप परिणामको दुःख कहते हैं।

शोक—उपकारी जनोंका सम्बन्ध विच्छेद हो जानेपर जो विकलता होती है उसे शोक कहते हैं।

वध—आयु, इन्द्रिय तथा बल आदि प्राणोंका वियोग करना वध कहलाता है।

ताप—निन्दा आदिके निमित्तसे जो पश्चात्ताप होता है उसे ताप कहते हैं।

क्रन्दन—अश्रुपात करते हुए रोना क्रन्दन कहलाता है।

परिदेवन—इस प्रकार विलाप करना जिससे दूसरोंको दया उत्पन्न हो जावे परिदेवन कहलाता है।

यद्यपि ये सब दुःखके हो भेद है इसलिये एक दुःखके ग्रहणसे सबका ग्रहण हो जाता है तथापि दुःखकी जातियाँ बतलानेके लिए पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है॥ २०-२४॥

सातावेदनीयके आस्रवके हेतु

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥२५॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥२६॥

अर्थ—दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रियदमन, क्षमा, वैयावृत्त्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम भूतानुकम्पा और व्रत्यनुकम्पा ये सातावेदनीयके आस्रवके हेतु है॥ २५-२६॥

दर्शनमोहनीयके आस्रवके हेतु

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम्।
अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि ॥२७॥
मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्।
इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥२८॥

अर्थ—केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव तथा तीर्थंकरोंका भी अवर्णवाद करना, मार्गमें दोष लगाना तथा उन्मार्ग—मिथ्यामार्गका उपदेश देना ये दर्शनमोहके आस्रवके हेतु हैं।

भावार्थ—अविद्यमान दोषोंका कहना अवर्णवाद है। केवली कवलाहार करते हैं इत्यादि कहना केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रोंमें मांस खाना लिखा है इत्यादि कहना श्रुतका अवर्णवाद है। ये नग्न है, म्लेच्छ है, आदि शब्दोंद्वारा ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनिसमूहकी निन्दा करना संघका अवर्णवाद है। जैनधर्ममे कुछ नही है, इसके धारण करनेवाले नास्तिक हैं तथा मरकर अमुर होते है इत्यादि कहना धर्मका अवर्णवाद है। देव मांस खाते हैं, सुरा पीते है, बलिदानसे प्रसन्न होते है आदि कहना देवोंका अवर्णवाद है। तीर्थंकरोके अकल्पित दोषोंका कहना तीर्थंकरोंका अवर्णवाद है ।। २७-२८ ।।

चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवके हेतु

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः ।
चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम् ।।२९।।

अर्थ—कषायोके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है वही चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

भावार्थ—क्रोधादि कषायोके तीव्र उदयमे जो हिंसा आदि पापोमे प्रवृत्ति होती है उससे चारित्रमोहनीय कर्मका आस्रव होता है ।। २९ ।।

नरकायुके आस्रवके कारण

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता ।
मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ।।३०।।
अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता ।
परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ।।३१।।
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता ।
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ।।३२।।
मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम् ।
नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ।।३३।।
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।
आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ।।३४।।

अर्थ—तीव्र मान करना, पाषाणरेखाके समान तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व-धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरन्तर निर्दयताके भाव रखना, सदा

जीवघात करना, निरन्तर झूठ बोलना, सदा परधन हरण करना, निरन्तर मैथुन सेवन करना, हमेशा कामभोग सम्बन्धी अभिलाषाओंको अत्यधिक बढ़ाना, जिनेन्द्रभगवान्में दोष लगाना, जिनागमका खण्डन करना, विलाव, मुर्गा आदि पापी जीवोंका पोषण करना, शील रहित होना, बहुत आरभ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकारका (हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द) रौद्रध्यान करना ये सब नरकायुके आस्रवके हेतु हैं ।। ३०-३४ ।।

तिर्यञ्चआयुके आस्रवके कारण

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम् ।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम् ।।३५।।
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा ।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ।।३६।।
सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः ।
वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा ।।३७।।
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम् ।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा ।।३८।।
कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम् ।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः ।।३९।।

अर्थ—शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरोंको ठगना, मिथ्यात्वसे सहित अधर्मोका उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशरका बनाना, झूठे नापतौलके बाँट तराजू तथा कूट आदिका चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदिका बनाना, वर्ण, गन्ध रस आदिको बदलकर अन्यरूप देना, छाँच, दूध तथा घी आदिमे अन्य पदार्थोंका मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरोंकी विषयाभिलाषाको उत्पन्न करना, कापोत और लेश्यासे युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयुके आस्रवके हेतु जानना चाहिये ।। ३५-३९ ।।

मनुष्य आयुके आस्रवके कारण

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह ।
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ।।४०।।

अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः ।
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४१॥

अर्थ—अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहके साथ परिणामोंमें सरलता रखना, स्वभावसे कोमल होना, गुरुपूजनका स्वभाव होना, अल्प संक्लेशका होना, दान देना और प्राणिघातसे दूर रहना ये सब मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं ॥ ४०–४१ ॥

देवायुके आस्रवके हेतु

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता ।
सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥४२॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४३॥

अर्थ—अकामनिर्जरा, बालतप, मन्दकषायता, समीचीन धर्मका सुनना, दान देना, देव-गुरु-धर्म तथा इनके सेवक इन छह आयतनोकी सेवा करना, सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसयम ये सब देवायुके आस्रवके कारण हैं ।

भावार्थ—यहाँ सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयमको जो देवायुका आस्रव बतलाया है उसका अभिप्राय उनके कालमे पाये जानेवाले रागसे है, क्योकि सयम या सम्यक्त्व बन्धके कारण नही है । उनके कालमे पाया जानेवाला रागांश ही बन्धका कारण है ॥ ४२–४३ ॥

अशुभ नामकर्मके आस्रवके हेतु

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता ।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता ॥४४॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम् ।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥४५॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् ।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥४६॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा ।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥४७॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी कुटिलता, विसंवाद करनेका स्वभाव, मिथ्यात्व,

झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्तका अस्थिर रखना, विषके प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वनमें आग लगानेकी प्रवृत्ति चलाना, मन्दिर सम्बन्धी उद्यानके भवनका विनाश करना, प्रतिमाको चढाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदिकी चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्योंसे जीविका करना, कठोर ओर असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्यवृद्धिके लिये वशीकरण आदि उपायोंको मिलाना ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके हेतु हैं ।। ४४-४७ ।।

शुभनामकर्मके आस्रवके हेतु

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा ।
योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ।।४८।।

अर्थ—निरन्तर संसारसे भयभीत रहना, सहधर्मीजनोंके साथ विसंवाद—विरोध नही करना और योगोकी सरलता रखना ये शुभनामकर्मके आस्रवके हेतु हैं ।। ४८ ।।

तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके हेतु

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः ।
मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च ।।४९।।
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता ।
ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ।।५०।।
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च ।
भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ।।५१।।
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः ।
नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रहेवतवः ।।५२।।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट विशुद्धता, शक्तिके अनुसार किये हुए तप और त्याग, मार्गप्रभावना, विनयसपन्नता, शील और व्रतोंमे अतिचार नही लगाना, निरन्तर संसार सम्बन्धी दुःखोंसे भयभीत रहना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, साधुसमाधि—मुनियोंके तपश्चरणमें बाधा आनेपर उसे दूर करना, वैयावृत्य, छह आवश्यकोंके करनेमे न्यूनता नही करना, प्रवचनभक्ति, आचार्य-भक्ति, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनवात्सल्य—सहधर्मीजनोंके साथ स्नेहभाव रखना ये सोलह, तीर्थकर नामकर्मके आस्रवके कारण है ।

भावार्थ—ऊपर तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके जो सोलह हेतु बतलाये गये

हैं वे जिनागममें सोलहकारण भावनाओंके नामसे प्रसिद्ध है। इन सोलहकारण भावनाओंमें सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता सबसे प्रमुख कारण है क्योंकि इसके विना शेष पन्द्रह भावनाएँ होनेपर भी तीर्थकरप्रकृतिका आस्रव नही होता है और इसके रहते हुए शेष भावनाओंमें कमी होनेपर भी तीर्थकरप्रकृतिका आस्रव हो जाता है। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताका अर्थ निःशङ्कित आदि आठ अङ्गरूप सम्यग्दर्शनका धारण करना है। तत्त्वदृष्टिसे सम्यग्दर्शकी विशुद्धता बन्धका कारण नही है क्योकि सम्यग्दर्शन तो मोक्षका कारण है वह बन्धका कारण कैसे हो सकता है। यहाँ सम्यग्दर्शनके कालमे जो लोककल्याणका शुभराग होता है वही बन्धका कारण है। इस शुभरागके अभावमे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता जब कि उसकी विशुद्धता सब सम्यग्दर्शनोंमे सर्वश्रेष्ठ होती है और उक्त शुभरागके सद्भावमे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवको भी तीर्थकरप्रकृतिका बन्ध हो जाता है जब कि उसके सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल-मल तथा अगाढ़ दोष लगा करते है। तीर्थकरप्रकृतिका आस्रव प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन चारों सम्यग्यदर्शनोंके कालमे होता है। इसके लिये श्रुतकेवली या प्रत्यक्षकेवलीके सन्निधानरूप बाह्य निमित्तकी भी आवश्यकता रहती है। कर्मभूमिज मनुष्यके चतुर्थगुणस्थानसे लेकर आठवे गुणस्थानके छठवे भाग तक ही इसके आस्रवका प्रारम्भ होता है। तीर्थकरप्रकृतिका आस्रव करनेवाला जीव या तो उसी भवसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है या फिर नरक या देवगतिमे जाता है वहाँसे आकर मोक्ष प्राप्त करता है। तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव करनेवाला जीव भोगभूमिका मनुष्य या तिर्यञ्च भी नही होता ॥ ४९–५२ ॥

नीचगोत्रकर्मके आस्रवके हेतु

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा ।
स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ॥५३॥

अर्थ—अपने अविद्यमान गुणोंका कथन करना, दूसरेके विद्यमान गुणोको छिपाना, अपनी प्रशसा करना तथा दूसरेकी निन्दा करना ये नीच गोत्रके आस्रव है ॥ ५३ ॥

उच्चगोत्र कर्मके आस्रवके हेतु

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः ।
उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः ॥५४॥

अर्थ—नम्रवृत्ति, अहंकारका अभाव और पूर्व श्लोकमें कहे हुए कारणोंसे

विपरीत कारण, ये सर्वज्ञ भगवानके द्वारा उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहे गये है ॥ ५४ ॥

अन्तरायकर्मके आस्रवके हेतु

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम् ।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम् ॥५५॥
वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम् ।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ॥५६॥
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम् ।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥५७॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा ।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५८॥

अर्थ—तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओंकी पूजा न करनेकी प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्योको भिक्षा आदि देनेका निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकारकी रुकावटोके साथ पशुओंकी नासिका आदिका छेद करना, देवताओको चढाये हुए नैवेद्यका प्रमादसे ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणोंका परित्याग करना (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणोमें कोई खरावी नही आई है उन्हे छोड़कर नये ग्रहण करना), जीवोंका घात करना, दान-भोग-उपभोग आदिमें विघ्न करना, ज्ञानका प्रतिषेध करना—स्वाध्याय या पठन-पाठनका निषेध करना, तथा धर्मकार्योंमें विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्मके आस्रवके हेतु है ॥ ५५-५८ ॥

व्रत और अव्रतके निरूपणकी प्रतिज्ञा

व्रतात् किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात् ।
संक्षिप्यास्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रताव्रतम् ॥५९॥

अर्थ—व्रतसे पुण्यकर्मका और अव्रतसे पापकर्मका आस्रव होता है इसलिये पूर्वोक्त आस्रवको संक्षिप्तकर अब आगे व्रत और अव्रतका विचार किया जाता है ॥ ५९ ॥

व्रतका लक्षण

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा ।
परिग्रहाच्च विरतिः कथयन्ति व्रतं जिनाः ॥६०॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे निवृत्ति होनेको जिनेन्द्र-भगवान् व्रत कहते हैं ॥ ६० ॥

महाव्रत और अणुव्रतके लक्षण

कार्त्स्न्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम् ।
एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम् ॥६१॥

अर्थ—हिंसादि पाँच पापोंसे पुरुषोंकी सर्वदेश निवृत्ति होनेको महाव्रत और एकदेश निवृत्ति होनेको अणुव्रत जानना चाहिये ॥ ६१ ॥

व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंके कहनेकी प्रतिज्ञा

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पञ्च पञ्च प्रतिव्रतम् ।
भावनाः सम्प्रतीयन्ते मुनीनां भावितात्मनाम् ॥६२॥

अर्थ—आत्मस्वरूपकी भावना करनेवाले मुनियोंके लिये उक्त व्रतोंकी स्थिरताके अर्थ प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती है ॥ ६२ ॥

अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरेव च ।
ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम् ॥६३॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते प्रथमे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान-भोजन ये पाँच प्रथम व्रत अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कही जाती है ।

भावार्थ—मनुष्यसे, वाचनिक, मानसिक, चलने फिरने सम्बन्धी, किसी वस्तुके रखने उठाने सम्बन्धी और भोजन सम्बन्धी यह पाँच प्रकारकी हिंसा होती है। अन्य सभी हिंसाओंका समावेश इन्हीं पांच हिंसाओंमें हो जाता है। आचार्यने वाचनिक—वचन सम्बन्धी हिंसासे बचनेके लिये वचनगुप्तिका, मानसिक—मनसम्बन्धी हिंसासे बचनेके लिये मनोगुप्तिका, चलने फिरने सम्बन्धी हिंसासे बचनेके लिये ईर्यासमितिका, रखने उठाने सम्बन्धी हिंसासे वचनेके लिये आदाननिक्षेपणसमितिका और भोजन सम्बन्धी हिंसासे बचनेके लिये आलोकित पान-भोजन—देखते हुए भोजनपानके ग्रहण करनेका उपदेश दिया है। इनका पालन करनेसे मनुष्य हिंसापापसे सुरक्षित रह सकता है ॥ ६३ ॥

सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ

क्रोधलोभपरित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने ।।६४।।
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पञ्च भावनाः ।

अर्थ—क्रोधत्याग, लोभत्याग, हास्यत्याग, भयत्याग और अनुवीचि भाषण—आचार्य परम्पराके अनुसार भाषण करना ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ है।

भावार्थ—मनुष्य कषाय और अज्ञान इन दो कारणोसे असत्य बोलता है। कषायसम्बन्धी असत्य क्रोध, लोभ, हास्य और भयके भेदसे चार प्रकारका होता है अतः इन चारो कषायोके त्यागका उपदेश देकर आचार्यने मनुष्यको कषायजन्य असत्यसे बचनेका उपाय बतलाया है। आगमका ज्ञान न होने अज्ञानजन्य असत्य बोला जाता है उससे बचनेके लिये आचार्यने अनुवीचि भाषण—आचार्य परम्परा अथवा आगमके अनुकूल भाषण करनेकी बात कही है। जो आगमके अनुकूल भाषण करना चाहेगा उसे आगमका अभ्यास अवश्य करना होगा और आगमका अभ्यास करनेसे अज्ञानजन्य असत्यसे सुरक्षा-अनायास हो जावेगी ।। ६४ ।।

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ

शून्यागारेषु वसनं विमोचितगृहेषु च ।।६५।।
उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता ।
सधर्माविसंवादस्तृतीये पञ्च भावनाः ।।६६।।

अर्थ—शून्यागारवास—वृक्षोकी कोटर तथा पर्वतोकी गुफा आदि प्राकृतिक निर्जनस्थानोमें रहना, विमोचितगृहावास—जिन गृहोपर उनके स्वामियोंने अपना आधिपत्य छोड़ दिया है ऐसे गृहोंमें निवास करना, उपरोधाविधान—अपने स्थानपर किसी अन्य मुनिके ठहर जानेपर बाधा नही करना, यथोदित भैक्ष्यशुद्धि—चरणानुयोगमें निरूपित विधिके अनुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और ससधर्माविसवाद—किसी उपकरणको लेकर सहधर्मा बन्धुओंके साथ विवाद नही करना ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ है।

भावार्थ—मनुष्य तीन प्रकारकी चोरी करता है—१ स्थान सम्बन्धी २ भोजन सम्बन्धी और ३ उपकरण सम्बन्धी। इनमें स्थान सम्बन्धी चोरीसे बचनेके लिये तीन भावनाएँ बतलाई है—शून्यागारावास, विमोचितावास और परोपरोधाकरण। इन भावनाओंका पालन करनेसे स्थान सम्बन्धी चोरीसे रक्षा हो सकती है। भोजन सम्बन्धी चोरीसे बचनेके लिये आगमानुकूल भैक्ष्य

शुद्धिका उपदेश दिया गया है। भैक्ष्यशुद्धिके अनुसार भोजन ग्रहण करनेवाले मुनि, भ्रामरी, गोचरी, अक्षम्रक्षण, उदराग्नि प्रशमन, तथा गर्तपूरणी इन पाँच वृत्तियोंका ध्यान रखते हुए आदत्तादानके दोषसे निर्मुक्त रहते हैं। उपकरण सम्बन्धी चोरीसे बचनेके लिये ससधर्माविसंवाद नामकी भावना कही है। प्रथम तो प्रत्येक मुनिको अपने-अपने पीछी, कमण्डलु तथा शास्त्ररूप उपकरणोंसे काम लेना चाहिये फिर कदाचित् अज्ञानवश कोई मुनि यदि किसी अन्य मुनिके उपकरणको ले लेता है तो उसके पीछे विवाद नही करना चाहिये। आखिर उपकरण, निर्वाहके ही साधन है ममत्वभाव बढ़ानेके नही ।। ६५-६६ ।।

ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ

स्त्रीणां रागकथाश्रावोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम् ।
पूर्वरत्यस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरसवर्जनम् ।।६७।।
शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्त्रियोमें राग बढानेवाली कथाओंके सुननेका त्याग करना, स्त्रियोंके रमणीय अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, पूर्वकालमे भोगी हुई रतिके स्मरणका त्याग करना, कामोत्तेजक गरिष्ठ रसोका त्याग करना और शरीरके सस्कारका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ है।

भावार्थ—ऊपर कही हुई पाँच बाते मनुष्यको ब्रह्मचर्यसे च्युत करनेमें सहायक है। इसलिये आचार्यने उपदेश दिया है कि कभी ऐसी कथाएँ या गीत आदि न सुनो, जिनसे स्त्रीविषयक रागकी वृद्धि हो। कभी स्त्रियोके स्तन, नितम्ब, कुक्षि आदि अङ्गोंकी ओर न देखो, जिनसे उनकी ओर आकर्षण बढ़े। कभी पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करो जिनसे स्त्रीकी आवश्यकता अनुभवमें आवे। सदा ऐसा सात्त्विक आहार करो जिससे इन्द्रियोमें उत्तेजना उत्पन्न न हो और शरीरका ऐसा संस्कार न करो जिससे स्त्रियाँ तेरी ओर आकृष्ट हों। इन पाँच बातोंकी ओर सजग दृष्टि रखनेसे ही ब्रह्मचर्यकी रक्षा हो सकती है ।। ६७ ।।

अपरिग्रह व्रतकी पाँच भावनाएँ

मनोज्ञा अमनोज्ञाश्च ये पञ्चेन्द्रियगोचराः ।।६८।।
रागद्वेषोज्झनान्येषु पञ्चमे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोके जो इष्ट और अनिष्ट विषय है उनमें राग-द्वेषका त्याग करना अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

भावार्थ—मनुष्यके पास जितना परिग्रह है वह स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें ही गर्भित है। जिन पदार्थोंको मनुष्य इष्ट मानता है उनका संग्रह करता है और जिन्हें अनिष्ट मानता है उन्हे दूर करता है। अपरिग्रह या परिग्रह त्यागव्रतकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि किसी वस्तुको इष्ट और अनिष्ट न माना जाय। जब इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि निकल जावेगी तब रागद्वेषकी उत्पत्ति स्वयं दूर हो जावेगी और रागद्वेषकी उत्पत्तिके दूर हो जानेपर परिग्रह रखनेका भाव ही नहीं रहेगा क्योकि रागद्वेष ही तो परिग्रहके रक्षक है ॥ ६८ ॥

हिंसादि पापोंके विषयमें कैसा विचार करना चाहिये ?

इह व्यपायहेतुत्वममुत्रावद्यहेतुताम् ॥६९॥
हिंसादिषु विपक्षेषु भावयेच्च समन्ततः ।
स्वयं दुःखस्वरूपत्वाद्दुःखहेतुत्वतोऽपि च ॥७०॥
हेतुत्वाद्दुःखहेतूनामिति तत्त्वपरायणः ।
हिंसादीन्यथवा नित्यं दुःखमेवेति भावयेत् ॥७१॥

अर्थ—हिंसादि पापोंके विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये कि ये इस लोकमें अनेक प्रकारके दु:खोके कारण है तथा परलोकमे पापबन्धके हेतु हैं। अथवा ऐसा विचार करे कि ये हिसादिक स्वय दुःखरूप हैं, दु खोंके कारण है, और दु:खोंके कारणोंके कारण है इसलिये दु ख ही है ॥ ६९-७१ ॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना

सत्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु ।
क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वामदृष्टिषु ॥७२॥

अर्थ—ससारके समस्त प्राणियोंमें मैत्री भावना, गुणी मनुष्योंमें प्रमोद-भावना, दु:खी जीवोंमें करुणाभावना और विपरीत मनुष्योमें माध्यस्थ्यभावनाका चिन्तन करना चाहिये ॥ ७२ ॥

संसार और शरीरके स्वभावका विचार

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत् ।
वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिन्तयेत् ॥७३॥

अर्थ—संवेग—संसारसे भीरुताकी सिद्धिके लिए अच्छी तरह संसारके स्वरूपकी भावना करना चाहिये और वैराग्यके लिये शरीरके स्वभावका विचार करना चाहिये ॥ ७३ ॥

हिंसा पापका लक्षण

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम् ।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता ।।७४।।

अर्थ—प्रमादके योगसे द्रव्य और भावप्राणोंका जो विघात करना है वह हिंसा कही गई है।

भावार्थ—हिंसाका प्रमुख कारण प्रमादका योग है क्योंकि प्रमादका योग रहते हुए बाह्यमे हिसा न होनेपर भी हिसा मानी जाती है और प्रमादका योग न होनेपर बाह्यमे हिसा होनेपर भी हिंसा नही मानी जाती ।। ७४ ।।

असत्य पापका लक्षण

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम् ।
समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः ।।७५।।

अर्थ—प्रमादके योगसे जो असत् पदार्थका कथन होता है सक्षेपसे उस सभीको असत्य जानना चाहिये ।। ७५ ।।

चोरी पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात् यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः ।
प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः ।।७६।।

अर्थ—प्रमादके योगसे जो बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना है संक्षेपसे उस सभीको चोरी जानना चाहिये ।। ७६ ।।

मैथुन पापका लक्षण

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम् ।

अर्थ—कामके तीव्रोदयसे जो अब्रह्मका सेवन होता है वह मैथुन कहलाता है।

परिग्रहपापका लक्षण

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्छा परिग्रहः ।।७७।।

अर्थ—'यह मेरा है' इस प्रकारके सकल्परूप मूर्छाको परिग्रह कहते है ।।७७।।

व्रतीका लक्षण

मायानिदानमिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः ।
अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते ।।७८।।

अर्थ—माया निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्योंके अभावसे विशिष्ट होता हुआ जो अहिंसा आदि व्रतोंसे सहित है वह व्रती कहलाता है।

भावार्थ—जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतोंसे सहित है वह व्रती कहलाता है। व्रती मनुष्यको माया, निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्योंसे रहित ही होना चाहिये। भीतरकी निर्बलताको छिपानेके लिये कितने ही मनुष्य भीतर कुछ हैं और बाह्यमें कुछ आचरण करते हैं। ऐसे मनुष्योंको कांटेकी तरह यह चुभती रहती है कि कोई हमारी भीतरकी निर्बलताको जान न जावे। यही माया शल्य है। व्रती मनुष्यको इस शल्यसे रहित होना चाहिये। भीतर जिस व्रतको धारण करनेकी शक्ति है उसी व्रतको धारण करना चाहिये तथा भीतर बाहर एक-सा आचरण रखना चाहिये। किसी फलकी अभिलाषा रखना निदान कहलाता है। जो मनुष्य किसी सांसारिक फलकी अभिलाषा रखकर व्रत धारण करता है वह उस सांसारिक फलकी प्राप्तिमे विलम्ब देख व्रतकी श्रद्धासे च्युत हो जाता है और वेगार समझकर ग्लानिपूर्वक व्रतका आचरण करता है। इसलिये 'पाप हेय है' इतना ही अभिप्राय रखकर पापका त्याग करते हुए व्रत धारण करना चाहिये। विपरीत श्रद्धाको मिथ्यात्व कहते है। कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुकी श्रद्धारूप स्थूल मिथ्यात्व तो व्रतीके होता ही नही है परन्तु कितने ही व्रती शुभोपयोगरूप व्रतको संवर और निर्जराका कारण मानते है जब कि वह शुभास्रवका कारण है। उनकी यह विपरीत श्रद्धा उन्हे मिथ्यात्वरूप शल्यसे युक्त बनाये रखती है। व्रती मनुष्यको शुभोपयोगकी भूमिकामे शुभोपयोगका आचरण करते हुए भी उसे मोक्षका साक्षात् कारण नही मानना चाहिये ॥ ७८ ॥

व्रतीके भेद

अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते ।
महाव्रतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः ॥७९॥

अर्थ—अनगार और अगारीके भेदसे वह व्रती दो प्रकारका कहा जाता है। महाव्रतका धारी अनगार कहलाता है और अणुव्रतका धारक अगारी कहा जाता है ॥ ७९ ॥

बारह व्रतोंके नाम

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा ।
सप्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः ॥८०॥

अतिथेः संविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः ।
अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादशव्रताः ॥८१॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए पाँच अणुव्रतोके सिवाय गृहस्थके दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, और अतिथि-संविभाग ये सात और भी व्रत होते हैं। इस तरह गृहस्थके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सब मिलाकर बारह व्रत होते है।

भावार्थ—जिस प्रकार खेतकी रक्षाके लिये वाड़ी होती है उसी प्रकार व्रतोंकी रक्षाके लिये सात शील होते है। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातको शील कहते है। इनसे अहिंसादि व्रतोंकी रक्षा होती है। गुणव्रतके तीन भेद है—१ दिग्व्रत, २ देशव्रत और ३ अनर्थदण्डव्रत। हिसा तथा आरम्भ आदिको कम करनेके अभिप्रायसे जीवनपर्यन्तके लिये दशो दिशाओमे आवागमनकी सीमा निश्चित करना दिग्व्रत है। दिग्व्रतके भीतर समयकी मर्यादाके साथ छोटी सीमा निश्चित करना देशव्रत है। और मन, वचन, कायके निरर्थक व्यापारका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है। ये अणुव्रतोंका गुण अर्थात् उपकार करते है इसलिये गुणव्रत कहे जाते है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल कम-से-कम दो घडी तक समताभाव रखते हुए सामायिक करना सामायिक कहलाता है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको धारणा और पारणाके दिनके एकाशनके साथ उपवास करना प्रोषधोपवासव्रत है। प्रोषधका अर्थ-एकाशन, उपवासका अर्थ—चारों प्रकारके आहारका त्याग और प्रोषधोपवासका अर्थ—एकाशनके साथ उपवास करना है। अथवा प्रोषधका अर्थ पर्व—अष्टमी चतुर्दशी है, पर्वके दिन उपवास करना ही प्रोषधोपवास है। भोग और उपभोग मे आनेवाली वस्तुओकी सख्या निश्चित करना भोगोपभोगपरिमाण है। जो वस्तु एकबार भोगनेमें आती है उसे भोग कहते है। जसे भोजन तथा माला आदि। और जो बार-बार भोगनेमे आती है उसे उपभोग कहते है। जैसे—वस्त्र, आभूषण आदि। इनका परिमाण यम और नियम दोनो रूपसे होता है। असेव्य वस्तुओंका त्याग तो यमरूप ही होता है और सेव्य वस्तुओका त्याग यम तथा नियम दोनो रूप होता है। जीवनपर्यन्तके लिये त्याग करना यम है और समयकी मर्यादाके साथ त्याग करना नियम है। अतिथि—योग्य पात्रके लिये चार प्रकारका दान देना अतिथिसंविभाग कहलाता है। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहलाते है क्योकि इनसे मुनिव्रतके अभ्यासकी शिक्षा मिलती है। पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे गृहस्थके बारह व्रत होते हैं। इनका पालन करने-वाला अगारी, गृहस्थ या श्रावक कहलाता है॥ ८०–८१ ॥

सल्लेखनाव्रतका वर्णन

अपरं च व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते ।
अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत् ॥८२॥

अर्थ—अन्तमें सल्लेखनादेवीकी जो प्रीतिपूर्वक सेवा करना है वह भी उन बारह व्रतोंमेंसे एक अन्य श्रेष्ठ व्रत माना जाता है।

भावार्थ—जीवनके अन्तमें प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करना यह भी एक उत्तम व्रत है। समताभावसे कषायोको कृश करते हुए मरण करना सल्लेखना है। इसे ही समाधिमरण या सन्यासमरण कहते है। कुन्दकुन्दस्वामीने इसे चार शिक्षाव्रतोंमे शामिल किया है। पर पीछे चलकर उमास्वामी आदि आचार्योंने इसका बारह व्रतोंके अतिरिक्त वर्णन किया है। ऐसा करनेमे इनका अभिप्राय यह रहा मालूम होता है कि मरण तो अन्तिम समयमे होता है उसका पहलेसे पालन किस प्रकार हो सकता है? शिक्षाव्रतोमें इसे सम्मिलित करनेमें कुन्दकुन्दस्वामीका यह अभिप्राय था कि गृहस्थको निरन्तर ऐसी भावना रखना चाहिये कि मै सल्लेखना द्वारा ही मरण करूँ। जिस जीवकी भावना सल्लेखना द्वारा मरण करनेकी रहती है वही अन्तमें सल्लेखना कर सकता है। जिसका प्रतीकार न हो सके ऐसा उपसर्ग, दुर्भिक्ष, तथा बुढापा प्राप्त होनेपर धर्म-रक्षाकी भावनासे सल्लेखना की जाती है। सल्लेखनाको उल्लासपूर्वक धारण करना चाहिए, संक्लेशपूर्वक नही। इसके भक्तप्रत्याख्यान, इगिनीमरण और प्रायोपगमनके भेदसे तीन भेद होते है। जिसमे क्रम-क्रमसे या एक-साथ आहार-पानीका त्याग किया जाता है, परन्तु शरीरकी टहल स्वय भी की जा सकती है और दूसरेसे भी कराई जा सकती है उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते है। जिसमें आहार-पानीके त्यागके साथ शरीरकी टहल स्वयं तो की जा सकती है पर दूसरेसे नही कराई जाती उसे इगिनीमरण कहते हैं। और जिसमें इतनी निःस्पृहता बढ़ जाती है कि आहारपानीके त्यागके साथ शरीरकी टहल न स्वय की जाती है और न दूसरेसे कराई जाती है उसे प्रायोपगमन कहते हैं॥ ८२॥

अतिचारोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा

सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ ।
अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥८३॥

अर्थ—अब इनके आगे सम्यक्त्व, पाँच व्रत, सात शील और सल्लेखना-विधिमें प्रत्येकके पाँच-पाँच अतिचार क्रमसे कहे जावेंगे।

भावार्थ—व्रतोंके एकदेश भङ्ग करनेको अतिचार कहते हैं। यह अतिचार प्रमाद या अज्ञानदशामें कदाचित् लगते है। बुद्धिपूर्वक बार-बार अतिचार लगानेसे व्रतभङ्ग हो जाता है ॥ ८३ ॥

सम्यक्त्वके पाँच अतिचार

शङ्कनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम् ।
प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते ॥८४॥

अर्थ—**शङ्का**—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंमें शङ्का करना अथवा सप्त भयरूप प्रवृत्ति करना, **काङ्क्षा**—सासारिक फलोंकी इच्छा करना, **विचिकित्सा**—धर्मात्माजनोंके मलिन शरीरमें ग्लानि करना, **परदृष्टिप्रशंसा**—अन्य मिथ्यादृष्टियोको मनमें अच्छा समझना और **परदृष्टिसंस्तव**—अन्य मिथ्यादृष्टियोंकी वचन द्वारा स्तुति करना ये पाँच सम्यक्त्वके अतिचार हैं ॥ ८४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

बन्धो वधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणम् ।
अन्नपाननिषेधश्च प्रत्येया इति पञ्च ते ॥८५॥

अर्थ— **बन्ध**—खोटे अभिप्रायसे किसी जीव-जन्तुको रस्सी आदिसे बाँधना, **वध**—लाठी, चाबुक आदिसे किसीको पीटना, **छेद**—नाक, कान, पूँछ आदि अगोंका छेदना, **गुरुभारारोपण**—शक्तिसे अधिक भार लादना और **अन्नपाननिरोध**—समय पर आहार-पानी नही देना अथवा अल्पमात्रामे देना ये पाँच अहिसाणुव्रतके अतिचार है ॥ ८५ ॥

सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार

कूटलेखो रहोभ्याख्या न्यासापहरणं तथा ।
मिथ्योपदेशसाकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते ॥८६॥

अर्थ—**कूटलेख**—बनावटी लेख लिखना, **रहोभ्याख्या**—स्त्री-पुरुषकी एकान्त चेष्टाको उनकी हँसी उड़ानेकी भावनासे प्रकट करना, **न्यासापहरण**—धरोहरको हड़प करनेवाले वचन कहना, **मिथ्योपदेश**—आगमके शब्दोंका अन्यथा व्याख्यान करना और **साकारमन्त्रभेद**—किसी चेष्टासे दूसरेकी गुप्त मन्त्रणाको जानकर प्रकट कर देना ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार है ॥ ८६ ॥

अचौर्याणुव्रतके पाँच अतिचार

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेनप्रयोजनम् ।
व्यवहारः प्रतिच्छन्दैर्मानोन्मानोनवृद्धता ॥८७॥

अतिक्रमो विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते ।

अर्थ—स्तेनाहृतग्रहण—चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुओंको जान-बूझकर ग्रहण करना, **स्तेनप्रयोजन**—स्वय चोरी न करते हुए भी चोरके लिये चोरीकी प्रेरणा करना, **प्रतिछन्द व्यवहार**—असली वस्तुओंमें नकली वस्तुएँ मिलाकर बेचना, **मानोन्मानोनवृद्धता**—नाँपने तौलनेके वाट तथा गज वगैरहको कम बढ़ रखना और **विरुद्धराज्यातिक्रम**—राज्यमे गड़बड़ी होनेपर मर्यादाका उलङ्घन करना अर्थात् सस्ती वस्तुओको अधिक मूल्यपर बेचना या अधिक मूल्यवाली वस्तुओंकी सस्ते भावसे खरीदना अथवा राजकीय आज्ञाका उल्लङ्घनकर विरोधी राजाके राज्यसे वस्तुओंका आयात-निर्यात करना ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार है ।। ८७ ।।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पाँच अतिचार

अनङ्गक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः ।।८८।।
इत्वर्योर्गमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः ।
तथा परविवाहस्य करणं चेति पञ्च ते ।।८९।।

अर्थ—अनङ्गक्रीडा—कामसेवनके लिये निश्चित अङ्गोके सिवाय अन्य अङ्गोसे अप्राकृतिक क्रीडा करना, **कामतीव्राभिनिवेश**—काम सेवनकी तीव्र लालसा रखना, **संगृहीतेत्वरिकागमन**—दूसरेके द्वारा ग्रहण की हुई कुलटा स्त्रियोंके साथ सपर्क रखना और **अगृहीतेत्वरिकागमन**—दूसरेके द्वारा ग्रहण न की हुई कुलटा स्त्रियोसे संपर्क रखना, और **परविवाहकरण**—अपने आश्रित पुत्र-पुत्रियोके सिवाय दूसरोका विवाह करना ये पॉच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं ।। ८८–८९ ।।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्रवास्तुनोर्धनधान्योः ।
दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते ।।९०।।

अर्थ—सोना-चाॅदी, खेत-मकान, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य—वर्तन तथा वस्त्रके प्रमाणका उल्लंघन करना ये पॉच परिग्रहपरिमाणुव्रतके अतिचार हैं ।

भावार्थ—सोना-चाँदी आदिके परिमाणके उल्लंघन करनेका प्रकार ऐसा है—जैसा कि किसीने नियम लिया कि मै दो आभूषण हाथके और एक गलेके लिए रक्खूँगा । पीछे लोभकी मात्रामें वृद्धि होने पर कम तौलसे बने हुए

आभूषणोंमें कुछ और सोना-चाँदी आदि मिलवा कर दूसरे आभूषण बनवा लिये। ऐसा करनेपर आभूषणोंकी संख्या तो पहलेके ही समान रक्खी परन्तु उनकी मात्रामें वृद्धि कर ली। इस तरह भङ्ग-अभङ्गकी अपेक्षा व्रतमें अतिचार उत्पन्न हुआ। यही बात खेत और मकानके विषयमें समझना चाहिये। जैसे किसीने नियम लिया कि मैं अपने निर्वाहके लिये दो मकान और दो खेत रक्खूँगा। पीछे उनसे लगे हुए दूसरे मकान या खेत लेकर उन्ही मकानों और खेतोंकी सीमामे वृद्धि कर ली। गिनती पहलेके समान रक्खी परन्तु परिमाणमे वृद्धि हो गई। इस तरह भङ्ग-अभङ्गकी अपेक्षा अतिचार उत्पन्न हुआ। गाय, भैंस आदि पशुओको धन तथा गेहूँ, चना आदि अनाजको धान्य कहते है। व्रत धारण करते समय किसीने नियम लिया कि मै चार गाये, उनके बछड़े और पचास मन धान्य रक्खूँगा। पीछे कोई अच्छी गाय दिखी अथवा आगे चलकर धान्यका भाव बढ़नेकी संभावना दिखी इसलिये इस प्रकारके बँधानके साथ दूसरी गाय या अधिक धान्यका सौदा करना कि हमारा सौदा पक्का रहा परन्तु इतने समय बाद हम लेगे। पीछे पासके बछडों आदिको अलग कर नवीन गायको लेना और अपने पासका धान्य खर्च कर दूसरा धान्य खरीदना इस तरह भङ्गाभङ्गकी अपेक्षा अतिचार हुआ। कम कीमतके दासी-दासको बदलकर उसी सख्याके भीतर अधिक कीमतके दासी-दासको लेना दासी-दासप्रमाणातिक्रम नामका अतिचार है। वर्तन और वस्त्रके विषयमे भी इसी विधिसे वृद्धि करने पर कुप्य प्रमाणातिक्रम नामका अतिचार होता है ॥ ९० ॥

दिग्व्रतके पाँच अतिचार

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध ऊर्ध्वमतिक्रमौ।
तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्च ते ॥९१॥

अर्थ—तिर्यग्व्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, ऊर्द्धव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं।

भावार्थ—समान धरातलकी सीमाका उल्लंघन करना **तिर्यग्व्यतिक्रम** है। नीचे—कुआ, बावड़ी आदिमें उतरते समय गृहीत सीमाका उल्लघन करना **अधोव्यतिक्रम** है। ऊपर किसी पर्वत आदिपर चढ़ते समय गृहीत सीमाका उल्लङ्घन करना **ऊर्ध्वव्यतिक्रम** है। व्रत धारण करते समय किसीने पचास कोश तक जानेका नियम लिया, पीछे मैने पचास कोश तक जानेका नियम लिया था या चालीस कोश तक, इस प्रकार स्मृतिमे विकल्प आ जानेपर चालीस कोशसे आगे जाना **स्मृत्यन्तराधान** नामका अतिचार है। व्रत लेते समय किसीने चारो दिशाओंमें सौ-सौ कोश तक आने-जानेका नियम लिया, पीछे चलकर पूर्वदिशामें १२५ कोशपर एक कारखाना खुल गया वहाँसे माल

लाने पर अधिक लाभ दिखने लगा तथा पश्चिमदिशामें सौ कोश तक आने जानेमे कोई लाभकी सभावना नहीं रही इसलिये पश्चिम दिशाकी सीमामें २५ कोशकी कमीकर पूर्वदिशाकी सीमामें २५ कोशकी वृद्धि कर ली। इस तरह **क्षेत्र-वृद्धि** नामका अतिचार होता है ॥ ९१ ॥

देशव्रतके पाँच अतिचार

अस्मिन्नानयनं देशे शब्दरूपानुपातनम् ।
प्रेष्यप्रयोजनं क्षेपः पुद्गलानां च पञ्च ते ॥९२॥

अर्थ—आनयन—सीमाके बाहरके क्षेत्रसे किसी वस्तुको बुलाना, **शब्दानुपात**—सीमाके बाहर काम करनेवाले लोगोको अपने शब्दोसे सचेत करना, **रूपानुपात**—सीमाके बाहर काम करनेवाले लोगोंको अपनी सूरत दिखलाकर काममे सावधान करना, **प्रेष्यप्रयोग**—सीमाके बाहर स्वय न जाकर नौकरके द्वारा काम कराना और **पुद्गलक्षेप**—सीमाके बाहर कङ्कड़ पत्थर वगैरह फेकना, पत्र भेजना या फोन करना आदि देशव्रतके पाँच अतिचार है ॥ ९२ ॥

अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतिचार

असमीक्ष्याधिकरणं भोगानर्थक्यमेव च ।
तथा कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि च पञ्च ते ॥९३॥

अर्थ—असममीक्ष्याधिकरण—निजका प्रयोजन अल्प होनेपर भी अधिक आरम्भ करना, **भोगानर्थक्य**—भोगोपभोगकी निरर्थक वस्तुओका संग्रह करना, **कन्दर्प**—रागसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना, **कौत्कुच्य**—अशिष्ट बचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गोंकी कुत्सित चेष्टा करना—खोटे संकेत करना और **मौखर्य**—आवश्यकतासे अधिक बोलना—निरर्थक गप्प मारना ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार है ॥ ९३ ॥

सामायिक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

त्रीणि दुःप्रणिधानानि वाङ्मनःकायकर्मणाम् ।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते ॥९४॥

अर्थ—वचनदुःप्रणिधान—मन्त्र या पाठ आदिका अशुद्ध उच्चारण करना, **मनोदुःप्रणिधान**—मनको स्थिर नहीं रखना, **कायदुःप्रणिधान**—शरीरको हिलाना-डुलाना इधर-उधर देखना, तथा आसन बदलना आदि, **अनादर**—मित्रोंकी गोष्ठी छोड़कर अनादरपूर्वक सामायिक करना तथा **स्मरणानुपस्थान**—

पाठ वगैरहकी स्मृति नही रखना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ९४ ॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार

संस्तरोत्सर्जनादानमसंदृष्टाप्रमार्जितम् ।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते ॥९५॥

अर्थ—भूखसे व्याकुल होकर विना देखे तथा विना शोधे हुए स्थानपर विस्तर आदिका बिछाना, मलमूत्रका छोडना, किसी वस्तुका रखना उठाना, अनादरके साथ उपवास करना और उपवासके दिनका स्मरण भूल जाना अथवा विधिका स्मरण नही रखना ये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार है ॥ ९५ ॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार

सचित्तस्तेन सम्बन्धस्तेन सम्मिश्रितस्तथा ।
दुःपक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पञ्च पञ्च ते ॥९६॥

अर्थ—सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्तसम्मिश्रिताहार, दुःपक्वाहार और अभिषवाहार ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार है।

भावार्थ—भोग और उपभोगकी अनेक वस्तुएँ है। अतः उन सबसे सम्बन्ध रखनेवाले अतिचारोंका वर्णन करना अशक्य है यह विचारकर आचार्यने भोजनको प्रधानता देते हुए उसके अतिचारोका वर्णन किया है। शेष वस्तुओसे सम्बन्ध रखनेवाले अतिचार उपलक्षणसे समझ लेना चाहिये। अतिचारोंका खुलासा इस प्रकार है—जैसे—किसीने नियम लिया कि आज मै सचित्त भोजन नहीं करूँगा। पश्चात् भोजनके समय आई हुई सचित्त वस्तुके प्रमाद[१] या अज्ञानके कारण ग्रहण करना **सचित्ताहार** है। अथवा क्षुधा-तृषासे आतुर होनेके कारण शीघ्रता करनेवाले व्यक्तिकी सचित्त वस्तुओंके खाने-पीने अनुलेपन करने अथवा गीले वस्त्र आदिके धारण करनेमे प्रवृत्ति होना सचित्ताहार है। हरे पत्ते आदिमें रखे हुए अचित्ताहारको लेना **सचित्तसम्बन्धाहार** है, हरे धना आदि सचित्तवस्तुओंसे मिली हुई दाल आदि अचित्त वस्तुओको लेना **सचित्तसंमिश्रिताहार** है, अधजला या अधपका अचित्त भोजन ग्रहण करना **दुःपक्वाहार** है और गरिष्ठ भोजन करना **अभिषवाहार** है ॥ ९६ ॥

---

१. कथमस्य सचित्तादिषु वृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः। क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। (राजवार्तिक)

अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार

कालव्यतिक्रमोऽन्यस्य व्यपदेशोऽथ मत्सरः ।
सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते ॥९७॥

अर्थ—कालव्यतिक्रम—दान देने योग्य समयका उलङ्घनकर विलम्बसे दान देना, **अन्यव्यपदेश**—दूसरे दाताके द्वारा देने योग्य वस्तुका देना अथवा प्रमाद-वश स्वयं आहारादि न देकर दूसरेसे दिलाना, **मत्सर**—दूसरे दातारोंके यहाँ आहार हो जानेपर ईर्ष्याभाव करना, **सचित्तस्थापन**—हरे पत्ते आदिसे निर्मित पात्रमे रखा हुआ पदार्थ देना और **सचित्तपिधान**—हरे पत्ते आदि सचित्त वस्तुओसे ढके हुए आहारका देना ये पाँच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार है ॥ ९७ ॥

सल्लेखनाके पाँच अतिचार

पञ्चत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरञ्जनम् ।
सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पञ्च ते ॥९८॥

अर्थ—पञ्चताशंसा—कष्ट अधिक होनेपर जल्दी मरनेकी इच्छा रखना, **जीविताशंसा**—जीवित होनेकी इच्छा करना, **मित्रानुरञ्जन**—मित्रोसे राग करना, **सुखानुबन्ध**—पहले भोगे हुए सुखका स्मरण करना और **निदान**—आगामी भोगोंकी इच्छा करना ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार है ॥ ९८ ॥

दानका लक्षण

परात्मनोरनुग्राहिधर्मवृद्धिकरत्वतः ।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम् ॥९९॥

अर्थ—निज और परका उपकार करनेवाले धर्मकी वृद्धिका कारण होनेसे आत्मीय वस्तुका देना दान है, यह दान गृहस्थका व्रत है ॥ ९९ ॥

दानमें विशेषताके कारण

विधिद्रव्यविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः ।
ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रवविशेषकृत् ॥१००॥

अर्थ—विधि, द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता जानना चाहिये। दानकी विशेषता विशिष्ट पुण्यास्रवको करनेवाली है ॥ १०० ॥

पुण्यास्रवका कारण

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गसंन्यासलक्षणम् ।
व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपञ्चितम् ॥१०१॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहका त्याग करना जिसका लक्षण है ऐसे व्रतको भावपूर्वक धारण करना पुण्यास्रवको बढ़ानेवाला है ॥ १०१ ॥

पापास्रवका कारण

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गासंन्यासलक्षणम् ।
चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतम् ॥१०२॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहका त्याग नही करना जिसका लक्षण है ऐसा अव्रत अपने भावसे स्वयं पापास्रवको बढानेवाला है।

भावार्थ—पाँच पापोका त्याग करना व्रत है और पाँच पापोका त्याग नहीं करना अव्रत है। व्रससे पुण्यकर्मोका आस्रव होता है और अव्रतसे पापकर्मोंका आस्रव वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

पुण्य-पापकी विशेषता

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥

अर्थ--हेतु और कार्यकी विशेषतासे पुण्य और पापकी विशेषता होती है। शुभ-अशुभभाव पुण्य-पापके हेतु है और सुख तथा दुःख पुण्य-पापके कार्य है ॥ १०३ ॥

पुण्य और पापकी समानता

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः ।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥१०४॥

अर्थ--पुण्य और पाप दोनो ही समानरूपसे संसारके कारण है इसलिये निश्चयनयसे उनमें विशेषता नही है।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्ण और लोहेकी बेड़ी समान रूपसे बन्धनका कारण है उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों ही संसारके कारण है इसलिये निश्चयनयसे इन दोनोंमे विशेषता नही है, दोनो हेय है। परन्तु व्यवहारमे पुण्य स्वर्गादिके सुखका कारण है और पाप नरकादिके दु:खका कारण है। जब तक मोक्ष प्राप्त होनेका अवसर नहीं आया है तब तक व्रतके द्वारा स्वर्गादिकका प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अव्रतके द्वारा नरकादिका प्राप्त करना अच्छा नही है।[1]

१. वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥ इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य ।

इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी जीव पुण्यकार्योंको करता हुआ भी उन्हें सर्वथा उपादेय नहीं मानता। जो भाव, आस्रव और बन्धके कारण हैं उन्हें संसारका कारण मानता है और भाव, संवर तथा निर्जराके कारण हैं उन्हे मोक्षका कारण मानता है ॥ १०४ ॥

आस्रवतत्वको जाननेका फल

इतीहास्रवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—इस तरह शेष छह तत्त्वोंके साथ जो आस्रव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेवाला चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

●

पञ्चमाधिकार

(बन्धतत्त्ववर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना बन्धतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनों जगत्को प्रकाशित करने-वाले जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे प्रणाम कर बन्ध तत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

बन्धके पाँच हेतु

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः ।
प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः ॥ २ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके पाँच हेतु जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे गये है ॥ २ ॥

मिथ्यात्वके पाँच भेद

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च ।
आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—ऐकान्तिक, सांशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्वके पाँच भेद है ॥ ३ ॥

ऐकान्तिकमिथ्यात्वका लक्षण

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः ।
इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसमे धर्म और धर्मीके विषयमें 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारका एकान्त अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा जाता है ॥ ४ ॥

सांशयिकमिथ्यात्वका लक्षण

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः ।
इति यत्र मतिर्द्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत् ॥ ५ ॥

अर्थ—'जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नहीं' इस प्रकार जिसमें बुद्धिका भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है ॥ ५ ॥

विपरीतमिथ्यात्वका लक्षण

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—परिग्रह सहित भी गुरु होता है और केवली कवलाहारी होता है इस प्रकारकी जिसमें श्रद्धा होती है वह विपरीतमिथ्यात्व है ॥ ६ ॥

आज्ञानिकमिथ्यात्वका लक्षण

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम् ।
यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसमे हित और अहितके विवेकका अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है ॥ ७ ॥

वैनयिकमिथ्यात्वका लक्षण

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च ।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें सभी देवों और सभी धर्मोंको समान देखा जाता है उसे वैनयिकमिथ्यात्व जानना चाहिये ॥ ८ ॥

बारह प्रकारका असंयम

षड्जीवकायपञ्चाक्षमनोविषयभेदतः ।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः ॥ ९ ॥

अर्थ—छहकायके जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मनसम्बन्धी विषयके भेदसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने बारह प्रकारका असंयम कहा है।

भावार्थ—पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके स्थावर तथा त्रस इन छह कायके जीवोंका घात करना तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मनके विषयोंमें प्रवृत्ति करना इस तरह बारह प्रकारका असंयम होता है ॥ ९ ॥

प्रमादका लक्षण

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे ।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः ॥१०॥

अर्थ—आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणोंसे युक्त धर्मके विषयमें जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवानके द्वारा प्रमाद कहा गया है।

भावार्थ—भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन, और वाक्यके भेदसे शुद्धिके आठ भेद हैं। तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्यके भेदसे धर्मके दश भेद हैं। इन आठ प्रकारकी शुद्धियों तथा दश प्रकारके धर्मोंमें उत्साहका न होना प्रमाद कहलाता है ॥ १० ॥

पच्चीस कषाय

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः ।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः ॥११॥

अर्थ—सोलह कषाय और नौ नोकषाय कही गई हैं। इनमें जो थोड़ा भेद है वह नही लिया जाता है इसलिये दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है ॥ ११ ॥

पन्द्रह योग

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम् ।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः ॥१२॥

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये है ॥ १२ ॥

बन्धका लक्षण

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान् ।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः ॥१३॥

अर्थ—जीव कषायसे सहित होनेके कारण कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको योगवश जो सब ओरसे ग्रहण करता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा बन्ध कहा गया है।

भावार्थ—श्लोकमें जो 'कर्मणः' पद आया है वह पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियोमे बनता है। पञ्चमी विभक्तिके पक्षमें श्लोकका यह अर्थ होता है कि जीव कर्मसे सकषाय होता है अर्थात् पूर्वाबद्ध कर्मकी उदयावस्था होनेपर जीव कषायसे सहित होता है और षष्ठी विभक्तिके पक्षमे यह अर्थ होता है कि जीव कषाय सहित होनेके कारण कर्मोंके योग्य अर्थात् कर्मरूप परिणमन करने वाले कार्मणवर्गणात्मक पुद्गलोंको ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि कर्मका उपादानकारण पुद्गलद्रव्य है क्योंकि पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणत होता है

परन्तु उस परिणमनमें आत्माकी सकषाय दशा अर्थात् रागादिकभाव निमित्त-कारण हैं। इसी तरह आत्माकी जो सकषाय दशा है उसका उपादानकारण आत्मा है और द्रव्यकर्मका उदय उसका निमित्तकारण है। आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं एक-एक प्रदेशके साथ अनन्त-अनन्त कर्मपरमाणु लग रहे हैं और एक-एक कर्म-परमाणुके साथ अनन्त-अनन्त कार्मणवर्गणाके परमाणु लग रहे हैं। जब आत्मामें योग और कषायरूप परिणति होती है तब वे कार्मणवर्गणाके परमाणु प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप परिणत होकर बन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाते है तथा उन्हें कार्मणवर्गणाके बाद कर्मसंज्ञा प्राप्त हो जाती है। सामान्यरूपसे यह बन्धकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है तथा अभव्य जीव और दूरानुदूर भव्यके अनन्तकाल तक चली जावेगी। परन्तु भव्यजीवके समय पाकर नष्ट हो जावेगी, इसलिये आत्मा और कर्मोंका सम्बन्ध अभव्य तथा दूरानुदूर भव्यकी अपेक्षा अनादि अनन्त है, भव्य जीवकी अपेक्षा अनादि और सान्त है तथा विशिष्ट कर्मकी अपेक्षा सादि और सान्त है। आत्माके साथ जो कर्मोंका सम्बन्ध होता है वह किसी एक स्थानके प्रदेशोके साथ होता हो, ऐसी बात नही है किन्तु सर्वतः—समन्तात्—सब ओरसे होता है ॥ १३ ॥

कर्म आत्माका गुण नहीं है

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तेस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति ॥१४॥

अर्थ—कर्म, आत्माका गुण नही है क्योंकि आत्माका गुण होनेसे वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिकका बन्ध नही हो पाता। अमूर्तिक कर्म, अमूर्तिक आत्माका अनुग्रह और निग्रह—उपकार और अपकार करनेमें समर्थ नही होता ॥ १४ ॥

कर्मोंका मूर्तिकपना किस तरह है ?

औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते ॥१५॥

अर्थ—औदारिक आदि कार्योंका कारण जो कर्म है वह मूर्तिमान् है क्योंकि अमूर्तिमान् पदार्थके द्वारा मूर्तिमान् पदार्थोका आरम्भ कहीं भी दिखाई नहीं देता।

भावार्थ—यद्यपि कर्म सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिगोचर नही होता तथापि वह मूर्तिक है क्योंकि उसका कार्य जो औदारिक आदि शरीर है वह मूर्तिक है। मूर्तिककी रचना मूर्तिसे ही हो सकती है इसलिये दृश्यमान औदारिकादि शरीरोंसे अदृश्यमान कर्ममें मूर्तिपना सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

मूर्तिककर्मके साथ आत्माका बन्ध किस प्रकार होता है इसका समाधान

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्त्तित्वसिद्धितः ॥१६॥
अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥
बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुपवेशतः ।
युगपद् द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥
तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥
गुणस्य गुणिनश्चैव न च बन्धः प्रसज्यते ।
निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः ॥२०॥

अर्थ—अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोके साथ बन्ध असिद्ध नही है क्योंकि अनेकान्तसे आत्मामे मूर्तिकपना सिद्ध है। कर्मोके साथ अनादिकालीन नित्य सम्बन्ध होनेसे आत्मा और कर्मोमे एकत्व हो रहा है इसी एकत्वके कारण अमूर्तिक आत्मामे भी मूर्तिकपना माना जाता है। जिस प्रकार एक साथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चाँदीका एक पिण्ड बनाये जानेपर परस्पर प्रदेशोंके मिलनेसे दोनोमे एकरूपता मालूम होती है उसी प्रकार बन्धकी अपेक्षा जीव और कर्मोके प्रदेशोके परस्पर मिलनेसे दोनोमे एकरूपता मालूम होती है। आत्माके मूर्तिक माननेमे एक युक्ति यह भी है कि उसपर मदिराका प्रभाव देखा जाता है इसलिये आत्मा मूर्तिक है क्योकि मदिरा अमूर्तिक आकाशमें मदको उत्पन्न नही करती। कर्मको यदि आत्माका गुण माना जावे तो आत्मा गुणी कहलावेगा और गुण तथा गुणीका बन्ध होता नही है। इस तरह आत्माका कर्मके साथ बन्ध नहीं हो सकेगा। मोक्ष अवस्थामे आत्मा कर्मसे निर्मुक्त होता है इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा अपने ही गुणसे निर्मुक्त हो गया, इस दशामें आत्माका आत्मपना ही नष्ट हो जायगा क्योकि गुणके अस्तित्वसे ही वस्तुका अस्तित्व रहता है गुणके नष्ट हो जानेपर वस्तुका वस्तुत्व नही रहता।

भावार्थ—निश्चय नयसे आत्मा और कर्म दोनो द्रव्य स्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य हैं इसलिये इनमे बन्ध नहीं है परन्तु व्यवहार नयसे कर्मके अस्तित्व कालमें

---

१. बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होइ जीवस्स ॥

आत्मा स्वतन्त्र नही है इसलिये दोनोंमें बन्ध माना जाता है। व्यवहारनयसे आत्मा और कर्मोंमें एकताका अनुभव होता है इसलिये आत्माको मूर्तिक माना जाता है। मूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंके साथ बन्ध होनेमे आपत्ति नहीं है ॥ १६-२० ॥

बन्धके चार भेद

प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः ।
तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ॥२१॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशबन्धके भेदसे बन्ध चार प्रकारका जानना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते है। अस्तित्व-के तारतम्यको स्थितिबन्ध कहते है। फलशक्तिकी हीनाधिकताको अनुभव या अनुभागबन्ध कहते है तथा कर्मोंके प्रदेशोकी हीनाधिकताको प्रदेशबन्ध कहते है। इन चार प्रकारके बन्धोंमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होते है और स्थिति तथा अनुभवबन्ध कषायके निमित्तसे होते है। यहाँ मिथ्यात्व, अविरति और प्रमादको कषायके अन्तर्गत किया गया है। प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तक चारों बन्ध होते है। उसके बाद ग्यारहवे गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है। चौदहवे गुणस्थानमे कोई बन्ध नहीं होता ॥ २१ ॥

कर्मोंकी आठ मूलप्रकृतियाँ

ज्ञानदर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा ।
नामगोत्रान्तरायाश्च मूलप्रकृतयः स्मृताः ॥२२॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूलप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—प्रकृतिबन्धके मूलमें उपर्युक्त आठ भेद हैं इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकट न होने दे उसे **ज्ञानावरण** कहते है। जो दर्शनगुणको आवृत करे उसे **दर्शनावरण** कहते है। जो सुख-दुःखका कारण हो उसे **वेदनीय** कहते हैं। जिसके उदयसे जीव अपने स्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें अहंकार तथा ममकार करे उसे **मोहनीय** कहते है। जिसके उदयसे जीव नरकादि योनियोमे परतन्त्र हो उसे **आयुकर्म** कहते है। जिसके उदयसे शरीरादिकी रचना

हो वह **नामकर्म** है। जिसके उदयसे उच्च-नीच कुलमें जन्म हो उसे **गोत्रकर्म** कहते हैं और जिसके द्वारा दान, लाभ आदिमे बाधा प्राप्त हो उसे **अन्तरायकर्म** कहते हैं ॥ २२ ॥

कर्मोंकी एकसौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात् ।
चतस्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च ॥२३॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयुकी चार, नामकी तेरानवे, गोत्रकी दो और अन्तरायकी पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अडतालीस उत्तरप्रकृतियाँ हैं ॥ २३ ॥

ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियाँ

मतिः श्रुतावधी चैव मनःपर्ययकेवले ।
एषामावृत्तयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः ॥२४॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ है। ये क्रमसे आत्माके मतिज्ञान आदि गुणोंको घातती है ॥ २४ ॥

दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः ।
दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम् ॥२५॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा ।
प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च दृग्रोधस्य नव स्मृताः ॥२६॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनोंको रोकनेसे चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ सब मिलाकर दर्शनावरणकर्मकी नौ प्रकृतियाँ स्मरणकी गई है।

भावार्थ—आत्माके दर्शनगुणको घातनेवाला कर्म दर्शनावरणकर्म कहलाता है। दर्शनगुणके चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेदसे चार भेद है इनको आवृत्त करनेवाले चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार भेद दर्शनावरणकर्मके मूल भेद है। इनके सिवाय निद्रा आदि पाँच प्रकारकी निद्राएँ

भी सामान्यरूपसे दर्शनगुणका घात करती हैं इसलिये उन्हें भी दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोंमें शामिल किया गया है। दोनों मिलाकर दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ होती हैं। चक्षुर्दर्शनावरण आदिके लक्षण नामसे ही स्पष्ट हैं शेष पाँच निद्राओंके लक्षण इस प्रकार हैं—

निद्रा—मद, खेद तथा थकावटको दूर करनेके लिये जो सोया जाता है वह निद्रा है।

निद्रानिद्रा—निद्राकी गहरी अवस्थाको निद्रानिद्रा कहते हैं।

प्रचला—जिससे बैठे-बैठे आँख मिच जावे उसे प्रचला कहते हैं।

प्रचलाप्रचला—प्रचलाकी जो तीव्ररूपता है उसे प्रचलाप्रचला कहते है। इस निद्रामे मुखसे लार बहने लगती है तथा अङ्गोपाङ्ग चलने लगते है।

स्त्यानगृद्धि—जिसके उदयसे आत्मा सोते समय भयंकर कार्य कर ले परन्तु जागनेपर उनका स्मरण न रहे उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं॥ २५–२६॥

वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ

द्विधा वेद्यसद्वेद्यं सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम्।

अर्थ—असद्वेद्य और सद्वेद्यकी अपेक्षा वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ है। जिसके उदयसे यह जीव देवादि गतियोमे प्राप्त सामग्रीमें सुखका अनुभव करे उसे सद्वेद्य कहते है और जिसके उदयसे नरकादि गतियोंमे प्राप्त सामग्रीमें दुःखका अनुभव करे उसे असद्वेद्य कहते है।

मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदतः॥२७॥
क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुबन्धिनः।
तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञिकाः॥२८॥
प्रत्याख्यानरुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः।
हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥२९॥
नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोहप्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ—मोहनीयकर्मकी मूलमें २ प्रकृतियाँ हैं—१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—१ मिथ्यात्वप्रकृति, २ सम्यक्त्वप्रकृति और ३ सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति। चारित्रमोहनीयके भी कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीयकी अपेक्षा दो भेद है। कषायवेदनीयके अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ;

प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभके भेदसे सोलह भेद है और नोकषायके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदकी अपेक्षा नौ भेद हैं। सब मिलाकर मोहनीय-कर्मके अट्ठाईस भेद होते है।

भावार्थ—उक्त भेदोके लक्षण इस प्रकार है—

मिथ्यात्वप्रकृति—जिसके उदयसे तत्त्वार्थका श्रद्धान नही हो पाता उसे मिथ्यात्वप्रकृति कहते है।

सम्यक्त्वप्रकृति—जिसके उदयसे सम्यग्दर्शनमें चल, मलिन और अगाढ़ नामक दोष लगते हैं उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते है।

सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति—जिसके उदयसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिश्रित परिणाम हो उसे सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति कहते है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—अनन्त ससारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते है उस अनन्त—मिथ्यात्वसे जिसका सम्बन्ध हो उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—जिसके उदयसे एकदेश-चारित्र प्रकट न हो सके उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—जिसके उदयसे सकलचारित्र न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते है।

संज्वलन कोध, मान, माया, लोभ—एकदेशघाती होनेके कारण जो सम् अर्थात् संयमके साथ भी ज्वलित-कार्यशील रहे उसे सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कहते है। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र प्रकट नही हो पाता है।

हास्य—जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य कहते है।

रति—जिसके उदयसे स्त्री-पुत्र आदिमे रागरूप परिणाम हों उसे रति कहते है।

अरति—जिसके उदयसे अनिष्ट पदार्थोंमे द्वेषरूप परिणाम हों उसे अरति कहते है।

शोक—जिसके उदयसे सुपुत्र आदिका वियोग होनेपर दुःखरूप परिणाम होता है उसे शोक कहते है।

भय जिसके उदयसे भय उत्पन्न होता है उसे भय कहते हैं।

जुगुप्सा—जिसके उदयसे घृणित पदार्थोके देखने पर ग्लानिका भाव उत्पन्न हो उसे जुगुप्सा कहते है।

स्त्रीवेद—जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमनेका भाव उत्पन्न हो उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

पुरुषवेद—जिसके उदयसे स्त्रीके साथ रमनेका भाव उत्पन्न हो उसे पुरुषवेद कहते हैं।

नपुंसकवेद—जिसके उदयसे दोनोंके साथ रमनेका भाव हो उसे नपुंसकवेद कहते हैं ॥ २७–२९ ॥

आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ

श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदायुश्चतुर्विधम् ॥३०॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायुके भेदसे आयुकर्मके चार भेद हैं। इनके उदयसे आत्मा नारकी आदिके शरीरमें कैद रहती है ॥ ३० ॥

नामकर्मकी तेरानवे प्रकृतियाँ

चतस्रो गतयः पञ्च जातयः कायपञ्चकम् ।
अङ्गोपाङ्गत्रयं चैव निर्माणप्रकृतिस्तथा ॥३१॥
पञ्चधा बन्धनं चैव सङ्घातोऽपि च पञ्चधा ।
समादिचतुरस्रं तु न्यग्रोधं स्वातिकुब्जकम् ॥३२॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम् ।
स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराजमेव च ॥३३॥
नाराचमर्द्धनाराचं कीलकं च ततः परम् ।
तथा संहननं षष्ठमसंप्राप्तसृपाटिका ॥३४॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदुलघ्वपि ।
गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च ॥३५॥
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पञ्चधा रसः ।
वर्णाः शुक्लादयः पञ्च द्वौ गन्धौ सुरभीतरौ ॥३६॥
श्वभ्रादिगतिभेदात्स्यादानुपूर्वीचतुष्टयम् ।
उपघातः परघातस्तथागुरुलघुर्भवेत् ॥३७॥
उच्छ्वास आतपोद्योतौ शस्ताशस्ते नभोगती ।
प्रत्येकत्रसपर्याप्तबादराणि शुभं स्थिरम् ॥३८॥

सुस्वरं सुभगादेयं यशःकीर्तिः सहेतरैः ।
तथा तीर्थकरत्वं च नामप्रकृतयः स्मृताः ॥३९॥

अर्थ—चार गतियाँ, पाँच जातियाँ, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डकसस्थानके भेदसे छह प्रकारका सस्थान; वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिकाके भेदसे छह प्रकारका संहनन; कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्णके भेदसे आठ प्रकारका स्पर्श, मधुर, अम्ल, कटुक, तिक्त और कषायके भेदसे पाँच प्रकारका रस; शुक्ल आदिके भेदसे पाँच प्रकारका वर्ण, सुगन्ध दुर्गन्धके भेदसे दो प्रकारका गन्ध, नरकगत्यानुपूर्वी आदिके भेदसे चार प्रकारका आनुपूर्वी; उपघात, परघात, अगुरुलघु, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, वादर, सूक्ष्म, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति और तीर्थकरत्व ये नामकर्मकी तेरानवे प्रकृतियाँ है ।

भावार्थ—इन प्रकृतियोके लक्षण इस प्रकार है—

गति—जिस कर्मके उदयसे जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव अवस्थाको प्राप्त होता है उसे गतिनामकर्म कहते है इसके नरकगति आदि चार भेद है ।

जाति—जिस कर्म के उदयसे जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन पाँच जातियोमे उत्पन्न हो उसे जातिनामकर्म कहते है। इसके एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच भेद है ।

शरीर—जिस कर्म के उदयसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन शरीरोंकी रचनाके योग्य परमाणुओकी प्राप्ति हो उसे शरीरनामकर्म कहते है इसके औदारिक शरीर आदि पाँच भेद है ।

अङ्गोपाङ्ग—जिस कर्मके उदयसे अङ्गो तथा उनके अवयवभूत उपाङ्गोंकी रचना हो उसे अङ्गोपाङ्गनामकर्म कहते है। इसके औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्गके भेदसे तीन भेद है । इनके लक्षण स्पष्ट है ।

निर्माण—जिसके उदयसे अङ्गोपाङ्गोकी रचना यथास्थान तथा यथाप्रमाण हो उसे निर्माणनामकर्म कहते है ।

बन्धन—जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोके परमाणु परस्पर बन्धको प्राप्त हो उसे बन्धननामकर्म कहते है। इसके औदारिक बन्धन आदि पाँच भेद है ।

संघात—जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके परमाणु परस्पर छिद्र रहित सम्बन्धको प्राप्त हों उसे संघातनामकर्म कहते हैं। इसके औदारिक सघात आदि पाँच भेद है।

संस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति विशेषकी रचना होती है उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं इसके समचतुरस्र आदि छह भेद है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

समचतुरस्रसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति सुडौल हो उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति न्यग्रोध—वट वृक्षके समान हो अर्थात् नाभिसे नीचेका भाग छोटा और ऊपरका भाग बड़ा हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

स्वातिसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरकी आकृति स्वाति—साँपकी बाँमीके समान हो अर्थात् नाभिसे नीचेका भाग बड़ा और ऊपरका भाग छोटा हो उसे स्वातिसस्थान कहते है।

कुब्जकसंस्थान—जिसके उदयसे शरीर कुबड़ा हो उसे कुब्जकसस्थाननामकर्म कहते है।

वामनसंस्थान—जिस कर्मके उदयसे शरीर बौना हो उसे वामनसस्थान कहते हैं।

हुण्डकसंस्थान—जिस कर्मके उदयसे शरीरकी रचना किसी निश्चित आकारकी नही होती उसे हुण्डकसस्थाननामकर्म कहते है।

संहनन—जिस कर्मके उदयसे सहनन—हड्डियोंकी रचना होती है उसे संहनननामकर्म कहते है। इसके वज्रर्षभनाराच आदि छह भेद है। इनके लक्षण इस प्रकार है—

वज्रर्षभनाराचसंहनन—जिसके उदयसे वज्रके हाड, वज्रके वेष्टन और वज्रकी कोले हो उसे वज्रर्षभनाराचसहनननामकर्म कहते है।

वज्रनाराचसंहनन—जिसके उदयसे वज्रके हाड और वज्रकी कीले होती है परन्तु वेष्टन वज्रके नही होते उसे वज्रनाराचसंहनन कहते है।

नाराचसंहनन—जिस कर्मके उदयसे वज्ररहित वेष्टन और कीलोंसे सहित हाड़ हों उसे नाराचसंहनननामकर्म कहते हैं।

अर्द्धनाराचसंहनन—जिस कर्मके उदयसे हाड़ोंकी संधियाँ आधी कीलित हों उसे अर्द्धनाराचसहननकर्म कहते हैं।

कीलकसंहनन—जिस कर्मके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों उसे कीलक संहनन कहते है।

असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन—जिस कर्मके उदयसे हाड़ नसों से बँधे हों, कीलों से युक्त न हों उसे असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन कहते हैं।

स्पर्श—जिसके उदयसे शरीरमे स्पर्शकी रचना हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं इसके कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये आठ भेद हैं।

रस—जिसके उदयसे शरीरमें रसकी रचना हों उसे रसनामकर्म कहते हैं इसके मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय ये पाँच भेद हैं।

वर्ण—जिसके उदयसे शरीरमें वर्णकी रचना हो उसे वर्णनामकर्म कहते है इसके शुक्ल, कृष्ण, नील, लाल और पीला ये पाँच भेद है।

गन्ध—जिसके उदयसे शरीरमें गन्धकी रचना हो उसे गन्धनामकर्म कहते हैं इसके सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो भेद है।

आनुपूर्वी—जिसके उदयसे विग्रहगतिमें जीवके प्रदेशोंका आकार पूर्व शरीरके समान रहता है उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते है। इसके नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये चार भेद है।

उपघात—जिसके उदयसे अपना ही घात करनेवाले अङ्गोपाङ्गोकी रचना हो उसे उपघातनामकर्म कहते है।

परघात—जिसके उदयसे दूसरोका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्गोंकी रचना हो उसे परघातनामकर्म कहते है।

अगुरुलघु—जिसके उदयसे ऐसे अङ्गोपाङ्ग हो जो न भारी हो और न लघु हों उसे अगुरुलघुनामकर्म कहते है।

उच्छ्वास—जिस कर्मके उदय श्वासोच्छ्वास होता है उसे उच्छ्वासनामकर्म कहते है।

आतप—जिस कर्मके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल तो शीत रहे परन्तु प्रभा उष्ण हो उसे आतपनामकर्म कहते है।

उद्योत—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल और प्रभा दोनों ही शीतल रहे उसे उद्योतनामकर्म कहते है।

विहायोगति—जिसके उदयसे आकाशमे गति हो उसे विहायोगतिनामकर्म कहते है, इसके प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति ये दो भेद हैं।

प्रत्येकशरीर—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका एक जीव ही स्वामो हो उसे प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते है।

साधारणशरीर—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके अनेक जीव स्वामी हो उसे साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं।

त्रस—जिसके उदयसे इस जीवका द्वीन्द्रियादि जीवोंमें जन्म होता है उसे त्रसनामकर्म कहते है।

स्थावर—जिसके उदयसे एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

पर्याप्त—जिस कर्म के उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी पूर्णता होती है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

अपर्याप्त—जिसके उदयसे एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

बादर—जिसके उदयसे बादर—दूसरोंको रोकनेवाला तथा दूसरोंसे रुकने वाला शरीर प्राप्त हो उसे बादर नामकर्म कहते है।

सूक्ष्म—जिसके उदयसे सूक्ष्म—दूसरोंको नही रोकनेवाला तथा दूसरोंसे नहीं रुकनेवाला शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

शुभ—जिसके उदयसे शरीरके अवयव शुभ हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

अशुभ—जिसके उदयसे शरीरके अवयव अशुभ हों उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

स्थिर—जिसके उदयसे शरीरकी धातुएँ तथा उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहे उसे स्थिर नामकर्म कहते है।

अस्थिर—जिसके उदयसे शरीरकी धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहे उसे अस्थिर नामकर्म कहते है।

सुस्वर—जिसके उदयसे अच्छा स्वर प्राप्त हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

दुःस्वर—जिसके उदयसे अच्छा स्वर प्राप्त न हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

सुभग—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जो अन्य लोगोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाला हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

दुर्भग—जिसके उदयसे ऐसा शरीर प्राप्त हो जो रूपादिगुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंके लिये प्रीति उत्पन्न करनेवाला न हो उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

आदेय—जिसके उदयसे शरीर एक विशिष्ट प्रकारकी प्रभासे सहित हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

अनादेय—जिसके उदयसे शरीर विशिष्ट प्रभासे सहित न हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

यशःकीर्ति—जिसके उदयसे यशकी प्राप्ति हो उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते है।

अयशःकीर्ति—जिसके उदयसे अपयशकी प्राप्ति हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते है।

तीर्थंकरत्व—जिसके उदयसे अरहन्त अवस्थाकी प्राप्ति होकर अष्ट प्रातिहार्यादि विभूति प्राप्त होती है उसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते है ॥३१–३९॥

गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्चनीचविभेदतः ।

अर्थ—उच्च और नीचके भेदसे गोत्रकर्म दो प्रकारका जानना चाहिये।

भावार्थ—जिसके उदयसे लोकमान्य एवं मोक्षमार्ग प्रचलनके योग्य कुलमें जन्म हो उसे **उच्चगोत्र** कर्म कहते है और जिसके उदयसे लोकनिन्द्य एव मोक्षमार्ग प्रचलनके अयोग्य कुलमें जन्म हो उसे **नीचगोत्र** कर्म कहते है।

अन्तरायकर्मके पाँच भेद

स्याद्दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥४०॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोऽपि पञ्चधा ।

अर्थ—दान, लाभ, वीर्य, परिभोग और उपभोग सम्बन्धी अन्तरायकी विचित्रतासे अन्तरायकर्म भी पाँच प्रकारका होता है।

भावार्थ—जो दानमे बाधा डाले उसे **दानान्तराय**, जो लाभमे बाधा डाले उसे **लाभान्तराय**, जो वीर्यमे बाधा डाले उसे **वीर्यान्तराय**, जो परिभोग (उपभोग) मे बाधा डाले उसे **परिभोगान्तराय** और जो उपभोग (भोग) में बाधा डाले उसे **उपभोगान्तराय** कहते है। जो वस्तु एक बार भोगनेमे आती है उसे **उपभोग** तथा जो वस्तु बार-बार भोगनेमे आती है उसे **परिभोग कहते हैं।** लोकमे उपभोगके लिये **भोग** और परिभोगके लिये **उपभोग** शब्द प्रचलित हैं। पर तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने इनके लिये उपभोग और परिभोग शब्दोंका प्रयोग किया है तदनुसार इस ग्रन्थमे भी उन्ही शब्दोका प्रयोग हुआ है ॥ ४० ॥

बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्‌विंशतिस्तथा ॥४१॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्धप्रकृतयः स्मृताः ।
अबन्धा मिश्रसम्यक्त्वे बन्धसंघातयोर्दश ॥४२॥

स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः।

अर्थ—मोहनीयकी दो और नामकर्मकी छब्बीस प्रकृतियोंको छोड़कर समस्त कर्मोंकी शेष प्रकृतियाँ बन्धके योग्य मानी गई हैं। मोहनीयकी सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति तथा नामकर्मकी बन्धन और संघात सम्बन्धी दश एवं स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सम्बन्धी सोलह इस तरह छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्धप्रकृतियाँ कही गई हैं।

भावार्थ—दर्शनीय मोहनीयकर्मके तीन भेदोंमें मात्र मिथ्यात्वका बन्ध होता है। पीछे सम्यग्दर्शन होनेपर उसके प्रभावसे उसके तीन खण्ड हो जाते है—१ मिथ्यात्व, २ सम्यग्मिथ्यात्व और ३ सम्यक्त्व प्रकृति। नामकर्ममे पाँच बन्धन और पाँच संघात इन दश प्रकृतियोका पाँच शरीरमे ही अन्तर्भाव हो जाता है और स्पर्शादिककी बीस प्रकृतियोंको बन्ध तथा उदयके प्रकरणमे भेदरूप न लेकर अभेदरूप लिया जाता है इसलिये सोलह प्रकृतियाँ इनकी कम हो जाती हैं, इस तरह सब मिलाकर नामकर्मकी छब्बोस प्रकृतियाँ अबन्धरूप हैं। एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंमें अभेद विवक्षामें सामान्यरूपसे एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धके योग्य और अट्ठाईस प्रकृतियाँ अबन्धके योग्य मानी गई हैं। उदयकी अपेक्षा एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदयके योग्य और छब्बीस प्रकृतियाँ उदयके अयोग्य मानी गई है। सत्त्वका वर्णन आचार्योंने भेदविवक्षासे ही किया है। इसलिये सभी प्रकृतियाँ सत्त्वके योग्य है असत्त्वके योग्य कोई भी प्रकृति नही है॥ ४१-४२॥

कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा ॥४३॥
कोटीकोटयः स्मृतास्त्रिंशन्सागराणां परा स्थितिः।
मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥४४॥
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः।

अर्थ—वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर, मोहनीयकी सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर, नाम और गोत्रकी बीस कोड़ा-कोड़ी सागर तथा आयुकी तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है॥ ४३-४४॥

कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नामगोत्रयोः ॥४५॥
स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु।

अर्थ—वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त जघन्यस्थिति है।

भावार्थ—ऊपर मूल प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बताया गया है। परन्तु उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबन्धमें विशेषता है जो कि इस प्रकार है—असाता वेदनीय एक और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायकी उन्नीस सब मिलकर बीस प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ा-कोड़ी सागरका है। साता-वेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, और मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन चार प्रकृतियोंका पन्द्रह कोडा-कोडी सागर, दर्शनमोहनीयके भेदरूप मिथ्यात्व प्रकृतिका सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर और चारित्रमोहनीयके भेदरूप सोलह कषायोंका चालीस कोडा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। हुण्डक संस्थान और असंप्राप्त सृपाटिका संहननका बीस कोडाकोड़ी सागर, वामनसंस्थान और कीलित सहनन-का अठारह कोडाकोडी सागर, कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराच संहननका सोलह कोड़ाकोडीसागर, स्वातिसंस्थान और नाराच संहननका चौदह कोड़ाकोड़ी सागर, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराच सहननका बारह कोड़ाकोड़ी सागर तथा समचतुरस्रसस्थान और वज्रर्षभनाराच संहननका दश कोड़ाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति और सूक्ष्म, अपर्याप्त तथा साधारण इन छह प्रकृतियोका अठारह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिवन्ध है। अरति, शोक, नपुंसकवेद तथा तिर्यञ्च, भय, नरक, तैजस और औदारिक इन पांचका जोड़ा, वैक्रियिक और आतप इन दोका जोड़ा, नीचगोत्र तथा त्रस—वर्ण और अगुरुलघु इन तीनकी चौकड़ी, एकेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्त विहायोगति, और अस्थिर आदि छह इन इकतालीस प्रकृतियोंका बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर आदिक छह प्रशस्त विहायोगति और देवगति देवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियोंका दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिवन्ध है। आहारक शरीर, आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर प्रकृति इन तीनोंका अन्तः कोडाकोड़ी अर्थात् कोड़िसे ऊपर और कोड़ाकोड़ीसे नीचे सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। देवायु और नरकायुका तेतीससागर, मनुष्यायु तथा तिर्यगायुका तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। किस जीवके कितनी स्थितिका बन्ध होता है आदि विषय गोम्मटसारादि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये॥ ४५॥

अनुभवबन्धका लक्षण

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् ॥४६॥

असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ।

अर्थ—पहले कहे हुए शुभ अशुभ कर्मोंका जो विपाक है उसे अनुभव या अनुभाग जानना चाहिये । जिस कर्मका जैसा नाम है उसका वैसा ही अनुभव होता है ।

भावार्थ—पिछली गाथाओंमें कर्मोंकी स्थिति बतलाई गई है । स्थितिबन्धके अनुरूप आबाधा[1] भी उसी समय पड़ती है । आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी आबाधाका सामान्य नियम यह है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिपर सौ वर्षकी आबाधा पड़ती है । सब कर्मोंकी जघन्य स्थितियोंपर उससे संख्यातगुणी कम आबाधा होती है । आयुकर्मकी आबाधा कोटिवर्ष पूर्वके तृतीय भागसे लेकर असंक्षेपाद्धा अर्थात् जिससे थोड़ा काल कोई न हो ऐसे आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण तक है । उदीरणाकी अपेक्षा सात कर्मोंकी आबाधा एक आवलीमात्र है आयुकर्ममें परभवसम्बन्धी आयुकी उदीरणा नियमसे नहीं होती । जिस कर्मकी जितनी स्थिति है उसमेंसे आबाधाकालको घटा देनेपर जो समय बचता है उसमे निषेक रचनाके अनुसार कर्मप्रदेशोंका खिरना शुरू होता है । प्रथम निषेकमें सबसे अधिक कर्मप्रदेश खिरते हैं फिर आगे-आगे उनकी संख्या गुणहानिके अनुसार कम-कम होती जाती है । इस तरह फल देते हुए पुराने कर्म क्रम-क्रमसे खिरते जाते है और नये-नये कर्मोंका बन्ध होता जाता है । यह क्रम अनादिकालसे चला आरहा है । प्रत्येक समय, समयप्रबद्ध प्रमाण—सिद्धोंके अनन्तवे भाग और अभव्य राशिसे अनन्तगुणें कर्मपरमाणु आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होते हैं और इतने ही कर्मपरमाणुओंकी प्रत्येक समय निर्जरा होती है फिर भी डेढ़ गुणहानि प्रमाण कर्मपरमाणुओंकी सत्ता विद्यमान रहती है । ज्ञानावरणादि कर्मोंका जैसा नाम है वैसा ही उनके उदयमें फल प्राप्त होता है । यह जीव अपने कषायरूप परिणामोंकी जिस तीव्र, मध्यम या मन्द अवस्थामें जैसा तीव्र, मध्यम या मन्द अनुभाग बन्ध करता है उसीके अनुसार उसे फल प्राप्त होता है । सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है तथा असातावेदनीय आदि अशुभप्रकृतियोंका अनुभागबन्ध संक्लेशरूप परिणामोसे उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामोंसे जघन्य अनुभागबन्ध होता है । घातियाकर्मोंकी अनुभागशक्तिको लता, दारु, अस्थि और शिलाकी उपमा देकर, अघातियाकर्मोंमें पुण्यप्रकृतियोंकी अनुभागशक्तिको गुड़, खाँड़, शर्करा और अमृतकी उपमा देकर, पापप्रकृतियोंकी अनुभागशक्तिको निम्ब, कांज्जरि, बिष और

---

१. कर्मरूप होकर आया हुआ द्रव्य जब तक उदय या उदीरणाके रूपमे नहीं आता तब तकके कालको आबाधा कहते हैं ।

हलाहलकी उपमा देकर चार भागोंमें विभक्त किया गया है ॥ ४६ ॥

प्रदेशबन्धका स्वरूप

घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥४७॥
एकद्वित्र्याद्यसंख्येय समयस्थितिकांस्तथा ।
उष्णरूक्षहिमस्निग्धान्सर्ववर्णरसान्वितान् ॥४८॥
सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत् ।
द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः ॥४९॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान् ।
आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥५०॥

अर्थ—जो घनाङ्गुलके असख्यातवे भागप्रमाण एक क्षेत्रमे स्थित है, जिनकी एक, दो, तीन आदि असख्यात समयोकी स्थिति है, जो उष्ण, रूक्ष, शीत और स्निग्ध स्पर्शसे सहित है, समस्त वर्णो और समस्त रसोसे सहित है, समस्त कर्म-प्रकृतियोंके योग्य है, पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारके है, सूक्ष्म है, समस्त भवोमे जिनका बन्ध होता है तथा जो समस्त आत्मप्रदेशोमे अनन्तानन्तप्रदेशो-को लिये हुए है ऐसे पुद्गलस्कन्धोको—कार्मणवर्गणाके परमाणुसमूहको यह जीव जो अपने आधीन करता है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है ॥ ४७–५० ॥

कर्मोमें पुण्य और पापकर्मका भेद

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा ।
पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते ॥५१॥

अर्थ—शुभोपयोग और अशुभोपयोगके भेदसे निमित्त दो प्रकारका है। इसलिये निमित्तकी द्विविधतासे समस्त कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो भेदोंमें विभक्त हो जाते है।

भावार्थ—शुभोपयोगरूप निमित्तसे जो कर्म बँधते है वे पुण्यकर्म तथा अशुभोपयोगरूप निमित्तसे जो कर्म बँधते है वे पापकर्म कहलाते हैं। इस प्रकार निमित्तकी अपेक्षा कर्मोंके दो भेद है ॥ ५१ ॥

पुण्यकर्म कौन कौन हैं ?

उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च ।
द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—उच्चगोत्र, शुभआयु, सातावेदनीय और शुभनामकर्म इस तरह ब्यालीस पुण्यप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—सातावेदनीय, नरकायुको छोड़कर तीन शुभआयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अङ्गोपाङ्ग, वर्णादिक चारके बीस, समचतुरस्रसस्थान, वज्रर्षभनाराचसहनन, उपघातको छोड़कर अगुरुलघु आदि छह (अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत), प्रशस्त-विहायोगति और त्रस आदि बारह (त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थकर) ये अड़सठ भेद-विवक्षामें और ब्यालीस अभेदविवक्षामें पुण्यप्रकृति कहलाती है ॥ ५२ ॥

पापप्रकृतियाँ कौन कौन हैं ?

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम् ।
द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्द्धं पापप्रकृतयः स्मृताः ॥५३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम तथा घातियाकर्मोंकी सैतालीस प्रकृतियाँ सब मिलाकर ब्यालीस पापप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

भावार्थ—घातियाकर्मोंकी सैतालीस प्रकृतियाँ (५ + ९ + २८ + ५ = ४७), नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादिक चार जातियाँ, समचतुरस्रको छोड़कर पाँच-संस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहननको छोड़कर पाँच संहनन, अशुभवर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शके बीस (अभेदविपक्षामें चार) उपघात, अप्रशस्त विहायोगति और स्थावरादिक दश (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति) इसप्रकार ये बन्धकी अपेक्षा भेदविवक्षामें अंठानवे और अभेदविवक्षामें ब्यासी तथा उदयकी अपेक्षा भेदविवक्षामें सौ और अभेदविवक्षामें चौरासी पापप्रकृतियाँ हैं। वर्णादिकको बीस प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनोंमें सम्मिलित होती हैं क्योंकि एक ही वर्णादि किसीके लिये शुभरूप और किसीके लिये अशुभरूप होते है ॥ ५३ ॥

बन्धतत्त्वका उपसंहार

इत्येतद्बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५४॥

अर्थ—इसप्रकार शेष छह तत्त्वोंके साथ जो बन्धतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसके प्रति रागद्वेषका त्याग करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें बन्धतत्त्वका वर्णन करनेवाला पञ्चम अधिकार पूर्ण हुआ ।

●

षष्ठ अधिकार

(संवरतत्त्व वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना संवरः संप्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्तकेवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जिन्होने तीनों लोकोंको प्रकाशित किया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्को शिरसे प्रणाम कर सवर तत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

संवरका लक्षण

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति सम्भवे ।
आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ – संवरके जो हेतु कहे गये हैं उनके सभव होनेपर आत्मामें जो आस्रव का निरोध होता है वह जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा सवर माना गया है ॥ २ ॥

संवरके हेतु

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः ।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः ॥ ३ ॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये संवरके हेतु है ॥ ३ ॥

गुप्तिका लक्षण

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा ॥ ४ ॥

अर्थ—योगोंका अच्छी तरह निग्रह करना गुप्ति कहलाता है। वह गुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे तीन प्रकारकी है ॥ ४ ॥

गुप्तिसे शीघ्र ही संवर होता है

तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति ।
तन्निमित्तास्रवाभावात्सद्यो भवति संवरः ॥ ५ ॥

अर्थ—गुप्तिमे प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके योगोंका निग्रह हो जाता है, इसलिये योगनिमित्तक आस्रवका अभाव होनेसे शीघ्र ही संवर होता है ॥ ५ ॥

समितियोंके नाम

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः ।
पञ्च गुप्तावशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो साधु गुप्तियोके धारण करनेमे असमर्थ है उसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्गके भेदसे पाँच समितियाँ मानी गई हैं ॥६॥

ईर्यासमितिका लक्षण

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः ।
गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्या समितिर्यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ—मार्ग, प्रकाश, उपयोग तथा उद्देश्यकी शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधिसे गमन करनेवाले मुनिके ईर्यासमिति मानी गई है ।

भावार्थ—तीर्थवन्दना तथा सद्गुरुके उपदेश श्रवण आदिके उद्देश्यसे मुनिका गमन होता है वह भी उस मार्गमे होता है जो सूक्ष्म तथा स्थूल जीवोसे रहित हो तथा सूर्यके प्रकाशसे अच्छी तरह प्रकाशित हो । चलते समय मुनिका उपयोग मार्गके अवलोकनमे स्थिर होना चाहिये, क्योकि अन्यमनस्क होकर चलनेमे जीवरक्षामे प्रमादका होना सभव है । आगममे मुनिको चलते समय चार हाथ प्रमाण भूमि देखकर चलनेकी आज्ञा है । इसी विधिसे जो चल रहा है ऐसे मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥ ७ ॥

भाषासमितिका लक्षण

व्यलीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषाद्वयम् ।
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मुनि असत्यादिसे रहित, सत्य तथा अनुभय वचनोंको आगमके कहे अनुसार बोलता है उसके भाषासमिति मानी जाती है ।

भावार्थ—सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे वचनके चार भेद हैं । इनमे असत्य और उभयवचन मुनिके लिये त्याज्य हैं, शेष दो वचन ग्राह्य हैं । इन दो प्रकारके वचनोंको भी जो आगमके अनुसार अर्थात् हित, मित और प्रिय रूपसे बोलना है उसके भाषासमिति होती है ॥ ८ ॥

एषणासमितिका लक्षण

पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना ।
साधोः शोधयतः शुद्धा ह्येषणा समितिर्भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो उद्गम तथा उत्पादन आदि दोषोंका बचाव करते हुए भोजन, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण और शय्याकी शुद्धि रखते है ऐसे मुनिके निर्दोष एषणासमिति होती है ॥ ९ ॥

आदाननिक्षेपणसमितिका लक्षण

सहसादृष्टदुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षणदूषणम् ।
त्यजतः समितिर्ज्ञेयादाननिक्षेपगोचरा ॥१०॥

अर्थ—सहसादृष्ट—जल्दी देखना, दुर्मृष्ट—बुरी तरह परिमार्जन करना और अप्रत्यवेक्षण—देखना ही नही । इन दोषोंका त्याग करनेवाले मुनिके आदान-निक्षेपणसमितिका जानना चाहिये ॥ १० ॥

उत्सर्गसमितिका लक्षण

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा ।
त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः ॥११॥

अर्थ—इसी विधिसे अर्थात् सहसादृष्ट, दुर्मृष्ट और अप्रत्यवेक्षण दोषोंको बचाते हुए प्रासुक भूमिपर छोड़ने योग्य मूत्र आदि पदार्थोंको छोड़नेवाले साधुके प्रतिष्ठापन अथवा उत्सर्गसमिति दिखलाई गई है ॥ ११ ॥

समितिका फल

इत्थं प्रवर्तमानस्य न कर्माण्यास्रवन्ति हि ।
असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः ॥१२॥

अर्थ—इस तरह समितिपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके असंयमके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंका आस्रव नहीं होता, अतः उनका संवर हो जाता है ॥ १२ ॥

दश धर्मोंके नाम

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः ।
त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः ॥१३॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चनता और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकारका धर्म माना गया है ॥ १३ ॥

क्षमा धर्मका लक्षण

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे ।
आक्रोशताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा ॥१४॥

अर्थ—गाली देना तथा मारना आदिक क्रोधकी उत्पत्तिके बहुत भारी निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताका अभाव होना क्षमा है।

भावार्थ—क्रोधोत्पत्तिके निमित्त मिलनेपर भी हृदयमें क्रोधका उत्पन्न नहीं होना सो क्षमा धर्म है ॥ १४ ॥

मार्दव धर्मका लक्षण

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते ।
जात्यादीनामनावेशान्मदानां मार्दवं हि तत् ॥१५॥

अर्थ—दूसरोंके द्वारा अनादर किये जानेपर भी जाति आदिक मदोंका आवेश न होनेसे जो अभिमानका भाव है वह मार्दव धर्म है।

भावार्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओंका अहंकार मनुष्यको हुआ करता है। जब किसी अन्यके द्वारा तिरस्कार होता है तब वह अहंकार स्पष्टरूपमें दिखाई देने लगता है। जब ऐसी स्थिति हो जावे कि दूसरोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेपर भी ज्ञान आदिका अहंकार प्रकट न हो तब मार्दवधर्म होता है। संक्षेपमें मानकषायके अभावसे आत्मामें नम्रता आती है वही मार्दव धर्म कहलाती है ॥ १५ ॥

आर्जवधर्मका लक्षण

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम् ।

अर्थ—वचन, मन और काय योगोंकी जो अवक्रता है वह आर्जव धर्म है।

भावार्थ—मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी सरलताका होना अर्थात् मनसे जिस बातका विचार किया जावे वही वचनसे कही जावे तथा वचनसे जो कही जावे उसीका कायसे आचरण किया जावे, आर्जव धर्म है। मायाकषाय-का अभाव होनेपर ही इसकी प्राप्ति होती है।

शौचधर्मका लक्षण

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ॥१६॥
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ।

अर्थ—प्राणीसम्बन्धी परिभोग और उपभोग तथा इन्द्रियसम्बन्धी परिभोग

और उपभोगके भेदसे लोभ चार प्रकारका होता है उसका अभाव होना शौच धर्म कहलाता है ॥ १६ ॥

सत्यधर्मका लक्षण

ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते ।
धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधु सत्यं तदुच्यते ॥१७॥

(षट्पदम्)

अर्थ—ज्ञान और चारित्रकी शिक्षा आदिके विषयमें धर्मवृद्धिके अभिप्रायसे जो निर्दोष वचन कहे जाते हैं वह सत्यधर्म कहलाता है ॥ १७ ॥

संयमधर्मका लक्षण

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम् ।
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥१८॥

अर्थ—समितियोंका पालन करनेवाले मुनिका इन्द्रियविषयोंमें विरक्त होना तथा जीवोंके वधका त्याग करना संयमधर्म है ।

भावार्थ—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा संयमके दो भेद है । छह कायके जीवोंका घात नही करना प्राणिसंयम है और पाँच इन्द्रियो तथा मनके विषयोंसे विरक्त होना इन्द्रियसयम है । यह सयम समितियोंका पालन करनेवाले मुनिके होता है ॥ १८ ॥

तपधर्मका लक्षण

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम् ।

अर्थ—कर्मोंका क्षय करनेके लिये जो तपा जावे वह तप कहलाता है ।

त्यागधर्मका लक्षण

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम् ॥१९॥

अर्थ—धर्मशास्त्र आदिका देना त्यागधर्म कहा गया है ॥ १९ ॥

आकिञ्चन्यधर्मका लक्षण

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित् ।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते ॥२०॥

अर्थ—ग्रहण किये हुए शरीर आदि किन्हीं पदार्थोंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका जो अभाव है वह आकिञ्चन्यधर्म कहलाता है ।

भावार्थ—मुनियोंके पास शरीर तथा पीछी, कमण्डलु और शास्त्ररूप उपकरण ही रहते है सो इनमे भी ममत्वभावका अभाव होना आकिञ्चन्य धर्म है ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यधर्मका लक्षण

स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेरनुभूताङ्गनास्मृतेः ।
तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद्ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात् ॥२१॥

अर्थ—स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले शय्या आदिक पदार्थ, पूर्वकालमें भोगी हुई स्त्रीका स्मरण तथा स्त्रीसम्बन्धी कथाका सुनना इनके त्याग करनेसे ब्रह्मचर्य-धर्म होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य धर्मका निर्दोप पालन करनेके लिये ऐसे आसन आदिपर नही बैठना चाहिये जिसपर स्त्री बैठी हो, पूर्वानुभूत स्त्रीका स्मरण नही करना चाहिये तथा स्त्रीसम्बन्धो कथा-वार्ताको भी नही सुनना चाहिये ॥ २१ ॥

धर्मसे संवरकी सिद्धि

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः ।
तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार धर्ममे प्रवृति करनेवाले मुनिके अधर्म निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुक जाता है इसलिये सवर होता है ॥ २२ ॥

बाईस परिषहोके नाम

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णदंशमत्कुणनग्नते ।
अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा ॥२३॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनालाभयोर्द्वयम् ।
रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम् ॥२४॥
असत्कारपुरस्कारं प्रज्ञाज्ञानमदर्शनम् ।
इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः ॥२५॥

अर्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मलधारण, असत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह अच्छी तरह सहन करने योग्य है।

भावार्थ—गृहीत मार्गसे च्युत न हों तथा कर्मोंकी निर्जरा हो इस उद्देश्यसे परिषह सहन किये जाते हैं। इन परिषहोंमें कितनी ही प्राकृतिक बाधाएँ हैं और कितनी ही दूसरोंके द्वारा की हुई हैं। समताभावसे इनका सहन करना चाहिये। संक्षेपसे इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ क्षुधापरिषह जय—बुद्धिपूर्वक उपवास करने तथा अन्तराय आदिके कारण आहार न मिलने पर क्षुधाकी बाधा उत्पन्न हो रही है फिर भी आत्मस्वरूपके ध्यानमें लीन होनेसे उस ओर जिनका लक्ष्य नही जाता ऐसे मुनिके क्षुधाकी बाधा जीतना क्षुधापरिषहजय है।

२ तृषापरिषह जय—अन्तरङ्गमे पित्त आदि दोषोंका प्रकोप तथा बहिरङ्गमें प्रतिकूल आहारके मिलनेसे तृषाकी बाधा उत्पन्न होनेपर भी जो धैर्यरूपी शीतल जलके द्वारा उस तृषाकी बाधाको सहन करते हैं ऐसे मुनिके तृषाकी बाधाको सहन करना तृषापरीषह जय है।

३ शीतपरिषह जय—हाडोंको कम्पित करनेवाली शीतकी तीव्र बाधाको समताभावसे सहन करना शीतपरिषह जय है।

४ उष्णपरिषह जय—गर्मीके तीव्र दुःखको समताभावसे सहन करना उष्णपरिषह जय है।

५ दंशमत्कुण परिषह जय—डांस तथा खटमल आदिके काटनेकी बाधाको सहन करना दशमत्कुण परीषह जय है। कही पर इस परीषहको दशमशक परिषह भी कहा है।

६ नग्नतापरिषह जय—नग्न रहते हुए भी बालकोंके समान किसी विकार भावका अनुभव नही करना नग्नतापरिषह जय है।

७ अरतिपरिषह जय—अनिष्ट पदार्थोंका सयोग होनेपर भी अप्रीतिका अनुभव नहीं करना अरतिपरिषह जय है।

८ स्त्रीपरीषह जय—स्त्रियोंके द्वारा अनेक प्रकारक हावभाव आदिके दिखलाने पर भी अपने मनमें किसी प्रकारके विकारका अनुभव नही करना स्त्रीपरीषह जय है।

९ चर्यापरीषह जय—पैदल चलनेका दु ख सहना चर्यापरिषह जय है।

१० निषद्यापरिषह जय—बहुत समय तक एक ही आसनसे बैठनेका दुःख सहन करना निषद्यापरिषह जय है।

११ शय्यापरिषह जय—कँकरीली पथरीली जमीनमें शयन करते हुए अन्तर्मुहूर्तव्यापिनी निद्राका अनुभव करना शय्यापरिषह जय है।

१२ आक्रोशपरिषह जय—दुर्जनोंके द्वारा कुवचन कहे जानेपर भी दुःखका अनुभव नही करना आक्रोशपरिषह जय है।

१३ वधपरिषह जय—दुर्जनोंके द्वारा किये हुए ताडन मारण आदिका दुःख सहन करना वधपरिषह जय है।

१४ याचनापरिषह जय—आहार तथा औषध आदिकी याचना नहीं करना याचनापरिषह जय है।

१५ अलाभपरिषह जय—आहारकी प्राप्ति न होनेपर अन्तरायकर्मकी प्रबलताका विचार करते हुए समताभावको सुरक्षित रखना अलाभपरिषह जय है।

१६ रोगपरिषह जय—शरीरमे उत्पन्न हुए अनेक रोगोंका दुःख सहन करना रोगपरिषह जय है।

१७ तृणसंस्पर्शपरिषह जय—काँटा आदिके चुभ जानेका दुःख सहन करना तृणसंस्पर्शपरिषह जय है।

१८ मलधारणपरिषह जय—यावज्जीवन स्नानका त्याग होनेसे शरीरमें मल लग जाता है उसका दुःख सहन करना मलधारणपरिषह जय है।

१९ असत्कार-पुरस्कारपरिषह जय—उठकर तथा आगे बढकर आदर करना सत्कार कहलाता है तथा किसी कार्यको किसीको अग्रसर (अगुआ) बनाना पुरस्कार कहलाता है। इन दोनोंके न होनेपर भी खेदका अनुभव नही करना असत्कारपुरस्कारपरिषह जय है।

२० प्रज्ञापरिषह जय—अपनेमे क्षायोपशमिक ज्ञानकी अधिकता होनेपर उसका गर्व नही करना प्रज्ञापरिषह जय है।

२१ अज्ञानपरिषह जय—ज्ञानावरणके उदयकी तीव्रताके कारण ज्ञानकी मन्दता होनेपर अन्य ज्ञानीजनोके द्वारा जो उपहास या तिरस्कार प्राप्त होता है उसमे समताभाव रखना अज्ञानपरिषह जय है।

२२ अदर्शनपरिषह जय—कठिन तपश्चरण करने पर भी उपसर्ग आदिके समय देवोके द्वारा रक्षाके न होने अथवा ऋद्धि आदिके प्रकट न होनेपर ऐसी अश्रद्धा नही होना कि यह सब कथाएँ तो मिथ्या है सरल मनुष्योको आकृष्ट करनेके लिये गढ़ ली गई है, अदर्शन परिषह जय है।

इन बाइस परिषहोमें एक साथ उन्नीस तक परिषह हो सकते है क्योंकि शीत और उष्ण इन दोमेसे एक कालमे एक ही होगा तथा चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनमेसे एक ही होगा। प्रज्ञा और अज्ञान परिषहकी उत्पत्ति ज्ञानावरण कर्मसे होती है। अदर्शनपरिषह दर्शनमोहनीयके उदयमे तथा अलाभपरिषह अन्तरायकर्मके उदयमे होता है। नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश,

याचना और असत्कार पुरस्कार ये सात परिषह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयमें होते हैं तथा शेष परिषह वेदनीयकर्मके उदयमें होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान और छद्मस्थ वीतराग नामक ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें क्षुधा, तृषा, शीत,उष्ण, दंशमत्कुण, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणसंस्पर्श, मलधारण, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परिषह होते हैं तथा जिनेन्द्र भगवान्‌के क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल-धारण ये ग्यारह परिषह होते हैं। तथा छठवेंसे नवम गुणस्थान तक सभी परिषह होते है। यहाँ जिनेन्द्र भगवान्‌के जो ग्यारह परिषह कहे गये है वे उन परिषहोंके मूल कारण वेदनीयकर्मका उदय रहने मात्रसे कहे गये है। कार्यरूपमें उनकी परिणति नहीं होती। जिनेन्द्र भगवान्‌के मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उन्हे वेदनीयके उदयमें होनेवाले दुःखका लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। उनका असातावेदनीय सातावेदनीयरूप होकर निर्जीर्ण होता है॥ २३-२५॥

परिषहजय संवरका कारण है

संवरो हि भवत्येतानसंक्लिष्टेन चेतसा।
सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः ॥२६॥

अर्थ—इन परिषहोको संक्लेश रहित चित्तसे सहन करनेवाले मुनिके रागादिके निमित्तसे होनेवाला आस्रव रुक जाता है इसलिये संवर होता है॥ २६॥

तप संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रचक्ष्यते।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम् ॥२७॥
अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते।
दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥२८॥

अर्थ—तप निर्जराका कारण है ऐसा आगे कहा जावेगा। परन्तु विद्वान् लोग उसे संवरका भी मुख्य कारण जानते हैं। एक ही वस्तु अनेक कार्योको करनेवाली हो, इसमें विरोध नहीं है क्योंकि एक ही अग्नि गर्मी तथा भोजन पकाना आदि कार्योंका कारण देखी जाती है।।२७–२८।।

बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥२९॥

लोको दुर्लभता बोधः स्वाख्यातत्त्वं वृषस्य च ।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ॥३०॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व इनका बार-बार चिन्तन करना बारह अनुप्रेक्षाएं कही गई है ॥२९-३०॥

अनित्यभावनाका लक्षण

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता ।
धात्री च जननी पश्चाद् धिग्मानुष्यमसारकम् ॥३१॥

अर्थ—उत्पन्न हुए जीवको सबसे पहले अनित्यता ही अपनी गोदमें लेती है पृथिवी और माता पीछे । सार रहित मनुष्यपर्यायको धिक्कार हो ॥३१॥

अशरणभावना

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः ।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः ॥३२॥

अर्थ—मृत्युरूपी भयकर व्याघ्रके द्वारा सूंघे हुए इस जीवको देव भी शरण नहीं है फिर मनुष्योंको तो बात ही क्या है ॥ ३२ ॥

संसारभावना

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव ।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्मकच्छिकः ॥३३॥

अर्थ—बडे दुःखकी बात है कि यह कर्मरूपी काछी इस जीवको चतुर्गतिरूपी रेंहटमें घरियाके समान लगाकर घुमाता रहता है ॥ ३३ ॥

एकत्वभावना

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४॥

अर्थ—किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता और किसकी स्त्री । इस दुस्तर ससारसागरमे यह जीव अकेला ही घूमता है ॥ ३४ ॥

अन्यत्वभावना

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५॥

अर्थ—यद्यपि सचेतन जीव जुदा है और अचेतन शरीर जुदा है तथापि दुःखकी बात है कि मनुष्य इन दोनोंकी जुदाईको नहीं मानते हैं ॥ ३५ ॥

अशुचित्वभावना

नानाकृमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते ।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके ॥३६॥

अर्थ—नाना प्रकारके सैकडों कीडोंसे व्याप्त, दुर्गन्धित तथा मलसे भरे हुए अपने और दूसरोंके शरीरमें पवित्रता कहाँ है ? ॥ ३६ ॥

आस्रवभावना

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः ।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ॥३७॥

अर्थ—बड़े खेदकी बात है कि योगरूपी छिद्रोंसे आये हुए कर्मरूप जलसे भरा हुआ यह जीव जहाजकी तरह संसाररूपी दुःखदायक समुद्रमे डूब रहा है ॥ ३७ ॥

संवरभावना

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः ।
आपतद्भि र्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ॥३८॥

अर्थ—किवाड़ोंके समान गुप्तियोंके द्वारा योगरूपी द्वारोंको बन्द करनेवाले भाग्यशाली जीव चारों ओरसे आनेवाले भयंकर कर्मोंके द्वारा बाधित नहीं होते ॥ ३८ ॥

निर्जराभावना

गाढोऽपजीर्यते यद्वदामदोषो विसर्पणात् ।
तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम् ॥३९॥

अर्थ—जिस प्रकार विरेचक औषधिसे बहुत भारी अजीर्णका दोष नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तपके द्वारा पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

लोकभावना

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि ।
वसतिस्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥४०॥

अर्थ—लोकके मार्गमें भ्रमण करनेवाले नित्य पथिकस्वरूप इस जीवने वसतिकाओंके स्थानके समान कौन-कौन कुलोमें निवास नहीं किया है।

भावार्थ—जिस प्रकार निरन्तर भ्रमण करनेवाला पथिक विश्राम करनेके लिये किन्हीं वसतिकाओंमें ठहरता है उसी प्रकार संसारके मार्गमें निरन्तर भ्रमण करता हुआ यह जीव नाना कुलोंमे ठहरता है—जन्म लेता है ॥ ४० ॥

बोधिदुर्लभभावना

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा ।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा ॥४१॥

अर्थ—मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिये नसैनी तथा कल्याणोंकी परम्परा स्वरूप रत्नत्रयकी प्राप्ति इस जीवको संसाररूपी सागरमें बहुत दुर्लभ है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बोधि कहते हैं। यह बोधि मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिये नसैनीके समान है तथा अनेक कल्याणो—सांसारिक सुखोंको प्राप्त करानेवाली है। अनादिकालसे संसाररूपी सागरमें मज्जनोन्मज्जनको करनेवाले इस जीवको रत्नत्रयकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभभावना है ॥ ४१ ॥

धर्मस्वाख्यातत्त्वभावना

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुङ्गवैः ।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ॥४२॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा सम्यक् प्रकारसे कहा हुआ यह क्षमादि लक्षणवाला धर्म ससाररूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये आधारस्तम्भके समान है ॥ ४२ ॥

अनुप्रेक्षासे संवरकी सिद्धि

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः ।
ततो हि निःप्रमादस्य महान् भवति संवरः ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकारकी भावना करनेवाले साधुका धर्ममें महान् पुरुषार्थ प्रकट होता है और उससे प्रमादरहित साधुके बहुत भारी संवर होता है ॥ ४३ ॥

पाँच प्रकारका चरित्र

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा ।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥४४॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

सामायिकचारित्रका लक्षण

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः ।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम् ॥४५॥

अर्थ—सदाके लिये अथवा किसी निश्चित काल तकके लिये अभेदरूपसे समस्त पापकार्योंका त्याग करना सामायिक नामका चारित्र है ॥ ४५ ॥

छेदोपस्थापनाचारित्रका लक्षण

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥४६॥

अर्थ—जिसमें हिंसा आदिके भेदपूर्वक पापकार्योंका त्याग होता है वह छेदोपस्थाना चारित्र है। अथवा व्रतमे बाधा आनेपर पुन उसकी शुद्धि करनेको छेदोपस्थापना कहते है।

भावार्थ—छेदोपस्थापना शब्दका समास दो प्रकारसे होता है—'छेदेन उपस्थापनं छेदोपस्थापनम्' और 'छेदे सति उपस्थापनं छेदोपस्थापनम्'। प्रथम पक्षमें छेदोपस्थापनाका अर्थ है छेद अर्थात् भेदपूर्वक पापकार्यका त्याग करना, जैसे मेरे हिंसाका त्याग है, असत्यका त्याग है आदि। और दूसरे पक्षमे अर्थ है कि गृहीत व्रतमें छेद—दोष लगनेपर पुनः प्रायश्चित्तविधिसे उसे शुद्ध करना ॥ ४६ ॥

परिहारविशुद्धिसंयमका लक्षण

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७॥

अर्थ—जिसमें प्राणिघातके एक विशिष्ट प्रकारके त्यागसे शुद्धि होती है—परिणामोंमें निर्मलता आती है वह परिहारविशुद्धि नामका संयम है।

भावार्थ—जो मनुष्य तीस वर्षकी अवस्था तक घरमें सुखसे रहकर समय व्यतीत करता है, अनन्तर दीक्षा लेकर तीर्थङ्करके पादमूलमें रहकर आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन करता है उसके तपस्याके प्रभावसे ऐसी विशिष्ट ऋद्धि होती है कि जीवराशिपर चलनेपर भी उसके शरीरसे किसी जीवका घात नहीं होता। इस संयमके धारी मुनि आवश्यक क्रियाओंके करनेके बाद प्रतिदिन

दो कोश प्रमाण विहार करते हैं। चातुर्मासके समय विहार करनेका नियम नहीं है। यह संयम छठवें और सातवें गुणस्थानमें होता है ॥ ४७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायसंयमका लक्षण

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा ।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो मुनेः ॥४८॥

अर्थ—समस्त कषायोके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जिस मुनिके मात्र सूक्ष्म लोभका सद्भाव रह जाता है उसके सूक्ष्मसाम्पराय नामका संयम होता है।

भावार्थ—उपशमश्रेणीवाले मुनिके नवम गुणस्थानके जब समस्त स्थूल कषायोंका उपशम हो जाता है तथा क्षपकश्रेणीवालेके समस्त स्थूल कषायोंका क्षय हो चुकता है तब वह दशम गुणस्थानमें प्रवेश करता है उस समय उसके संज्वलन सम्बन्धी सूक्ष्म लोभका ही उदय शेष रह जाता है। उसी समय उसके सूक्ष्मसाम्पराय नामका चारित्र प्रकट होता है। यह संयम सिर्फ दशम गुणस्थानमें ही होता है ॥ ४८ ॥

यथाख्यातचारित्रका स्वरूप

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमात्तथा ।
यथाख्यातमथाख्यात चारित्रं पञ्चमं जिनैः ॥४९॥

अर्थ--चारित्रमोहनीयकर्मके सम्पूर्णरूपसे क्षय अथवा उपशम हो जानेसे जो चारित्र प्रकट होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने यथाख्यात नामका पञ्चम चारित्र कहा है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके उपशमसे जो यथाख्यातचारित्र होता है वह औपशमिक यथाख्यातचारित्र कहलाता है। यह मात्र ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है। और जो चारित्रमोहके क्षयसे होता है उसे क्षायिक यथाख्यात कहते हैं। यह बारहवें आदि गुणस्थानोमे होता है ॥ ४९ ॥

सम्यक्‌चारित्रसे संवर होता है

सम्यक्चारित्रमित्येतद्यथास्वं चरतो यतेः ।
सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः ॥५०॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यक्‌चारित्रका जो मुनि यथायोग्य आचरण करता है उसके समस्त आस्रवोंका निरोध हो जाता हैं और आस्रवोंका निरोध होनेसे संवर होता है ॥ ५० ॥

तप भी संवरका कारण है

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः ।
स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद्भवति संवरः ॥५१॥

अर्थ—तपका वर्णन आगेके अधिकारमें किया जावेगा। जो मुनि उस तपकी अच्छी तरह भावना रखता है उसके स्नेह—कषायका क्षय होने तथा योगोंका निरोध होनेसे संवर होता है ॥ ५१ ॥

संवर तत्त्वका उपसंहार

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्ष्यते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार जो शेष छह तत्त्वोंके साथ संवर तत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चयसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमें संवरतत्त्वका वर्णन करनेवाला षष्ठ अधिकार पूर्ण हुआ ।

सप्तम अधिकार

(निर्जरा तत्त्वका वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्राणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना निर्जरातत्त्वमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जिन्होंने तीनों लोकोंको प्रकाशित कर दिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌को शिरसे नमस्कारकर निर्जरतत्त्वका कथन किया जाता है ॥ १ ॥

निर्जराका लक्षण और उसके भेद

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥ २ ॥

अर्थ—ग्रहण किये हुए कर्मका खिरना निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकारकी है—पहली विपाकजा और दूसरी अविपाकजा ॥ २ ॥

विपाकजा निर्जराका लक्षण

अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥ ३ ॥

अर्थ—अनादि बन्धरूप उपाधिके उदयवशवर्ती जीवका कर्म जिसमें अपना फल देता हुआ खिरता है वह विपाकजा निर्जरा है।

भावार्थ—अनादि कालसे बँधे हुए कर्मोंका निषेकरचनाके अनुसार अपना फल देते हुए खिरना विपाकजा निर्जरा है ॥ ३ ॥

अविपाकजा निर्जराका लक्षण और दृष्टान्त

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ ४ ॥
यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः ।
अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—अनुदीर्ण—उदयावलीमें अप्राप्त कर्मको तपकी शक्तिके द्वारा उदीर्ण कर्मोंकी उदयावलीमें प्रविष्ट कराकर जिसमें वेदा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। जिस प्रकार आम तथा कटहल आदि फल उपाय द्वारा असमयमें ही पका लिये जाते है उसी प्रकार प्राणियोंके कर्म भी तपश्चरणरूप उपायके द्वारा असमयमें पका लिये जाते हैं—उदयावलीमें लाकर खिरा दिये जाते हैं ॥ ४-५ ॥

विपाकजा और अविपाकजा निर्जराके स्वामी

अनुभूय क्रमात्कर्म विपाकप्राप्तमुज्झताम् ।
प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम् ॥६॥

अर्थ—पहली निर्जरा क्रम-क्रमसे उदयावलीको प्राप्त कर्मका फल भोगकर उसका त्याग करनेवाले समस्त जीवोंके नियमसे होती है परन्तु दूसरी निर्जरा तपस्वी-मुनियोंके ही होती है ॥ ६ ॥

तपके भेद

तपस्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत् ॥७॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका कहा गया है। दोनों ही प्रकारके तप छह-छह प्रकारके है तथा सब मिलाकर तप बारह प्रकारका होता है ॥ ७ ॥

बाह्य तपके छह भेद

बाह्यं तत्रावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम् ।
वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्तशयनासनम् ॥८॥

अर्थ—उनमें बाह्य तपके छह भेद निम्न प्रकार है—अवमौदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन ॥ ८ ॥

अवमौदर्य तपका लक्षण

सर्वं तदवमौदर्यमाहारं यत्र ह्रापयेत् ।
एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः ॥९॥

अर्थ—वह सब अवमौदर्य नामका तप है जिसमें मुनि समयका नियम लेकर एक दो तीन आदि ग्रासोंके द्वारा आहारको एक ग्रास तक घटा देते हैं—कम कर देते हैं।

भावार्थ—कवल चान्द्रायण आदि व्रतोंको अवमौदर्य तप कहते हैं। इसमें मुनि एक दो तीन आदि ग्रासके क्रमसे आहारको घटाते हुए एक ग्रास तक ले जाते हैं॥ ९॥

उपवासतपका लक्षण

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः।
उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः॥१०॥

अर्थ--जिसमे मोक्षके लिये चारो प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है वह उपवास कहलाता है। उसके षष्ठ—वेला तथा अष्टम—तेला आदि भेद हैं॥ १०॥

रसपरित्याग तपका लक्षण

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम्।
एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा॥११॥

अर्थ—तेल, दूध, इक्षुरस (गुड शक्कर आदि), दही और घी इन पाँच प्रकारके रसोमे एक दो तीन चार या पाँचो रसोका त्याग करनेवाले मुनिके रसपरित्याग नामका तप होता है॥११॥

वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण

एकवास्तुदशागारमानमुद्गादिगोचरः।
सङ्कल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥१२॥

अर्थ—जिससे एक मकान, दश मकान आदि तक जाना अथवा पेयपदार्थ और मूँग आदि अन्नोका सकल्प किया जाता है वह वृत्तिपरिसख्यान नामका तप है।

भावार्थ—वृत्तिका अर्थ आहार होता है। आहारसे सम्बन्ध रखनेवाले नाना प्रकारके नियम जिसमे किये जाते है वह वृत्तिपरिसख्यान नामका तप है। इस तपमे जब मुनि आहारके लिये निकलते हैं तब नियम लेकर निकलते है कि आज मै एक घर तक, दो घर तक, तीन घर तक अथवा दश घर तक जाऊँगा। इनमे आहार मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नही लूँगा। अथवा आज पेय-पदार्थ ही लूँगा या मूँग आदि अन्नसे निर्मित आहार मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नही लूँगा॥ १२॥

कायक्लेश तपका लक्षण

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता ।
आतपस्थानमित्यादिकायक्लेशो मतं तपः ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना, नाना आसनोंसे ध्यानस्थ होना, मौन रहना, शीतकी बाधा सहना तथा धूपमें बैठना इत्यादि कायक्लेश तप माना गया है ॥ १३ ॥

विविक्तशय्यासन तपका लक्षण

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम् ।
सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासम् ॥१४॥

अर्थ—जहाँ जीवोंको पीड़ा न हो ऐसी वसतिकामें शयन-आसन करनेवाले मुनिके विविक्तशय्यासन नामक तप होता है ।

भावार्थ—जीवजन्तुओंकी वाधासे रहित एकान्त स्थानमें सोना बैठना विविक्तशय्यासन तप है ॥ १४ ॥

आभ्यन्तर तपके छह भेद

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च ।
व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः ॥१५॥

अर्थ—स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं ॥ १५ ॥

स्वाध्याय तपके भेद

वाचना प्रच्छमाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ॥१६॥

अर्थ—वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षाके भेदसे जिनेन्द्र भगवान्ने पाँच प्रकार स्वाध्याय कहा है ॥ १६ ॥

वाचना स्वाध्यायका लक्षण

वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
गद्यस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ॥१७॥

अर्थ—गद्य-पद्यरूप ग्रन्थका, उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका अथवा दोनोंका पात्रके लिये जो देना है—बाँचकर सुनाता है उसे वाचना जानना चाहिये ॥ १७ ॥

प्रच्छना स्वाध्यायका लक्षण

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा।
परं प्रत्यनुयोगो यः प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥१८॥

अर्थ—शास्त्रविषयक संशयको दूर करनेके लिये, अथवा उसका निश्चय दृढ़ करनेके लिये दूसरेसे जो प्रश्न करना है उसे जिनेन्द्र भगवान् प्रच्छना नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥ १८ ॥

आम्नाय स्वाध्यायका लक्षण

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम्।

अर्थ—निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना आम्नाय नामका स्वाध्याय कहलाता है।

धर्मोपदेश स्वाध्यायका लक्षण

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥१९॥

अर्थ—धर्मकथा आदिका करना धर्मदेशना—धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय जानना चाहिये ॥ १९ ॥

अनुप्रेक्षास्वाध्यायका लक्षण

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत्।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०॥

अर्थ—पदार्थको जाननेवाले साधुका जो मनसे अभ्यास—चिन्तन आदि होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्ने अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहा है ॥ २० ॥

प्रायश्चित्त तपके नौ भेद

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः।
व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता ॥२१॥
परिहारस्तथाच्छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव।

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार और छेद ये प्रायश्चित्त तपके नौ भेद हैं ॥ २१ ॥

आलोचनाका लक्षण

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम् ॥२२॥

अर्थ—गुरुके लिये अपने प्रमादका निवेदन करना आलोचना है ॥ २२ ॥

प्रतिक्रमण और तदुभयका लक्षण

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः ।
प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात् ॥२३॥

अर्थ—'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' आदि शब्दोंके द्वारा जिसमें प्रतिकार प्रकट किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। स्वय प्रतिक्रमण करना तथा गुरुजनोंसे संसर्ग होनेपर आलोचना करना तदुभय कहलाता है ॥ २३ ॥

तप और व्युत्सर्गका लक्षण

भवेत्तपोऽवमौदर्यं वृत्तिसङ्ख्यादिलक्षणम् ।
कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः ॥२४॥

अर्थ—अवमौदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि तप हैं। और कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग कहा गया है ॥ २४ ॥

विवेक और उपस्थापनाका लक्षण

अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद्विवेचनम् ।
पुनर्दीक्षाप्रदानं यत्सा ह्युपस्थापना भवेत् ॥२५॥

अर्थ—अन्न, पान तथा औषध आदिका पृथक् करना विवेक है और फिरसे नई दीक्षा देना उपस्थापना है ॥ २५ ॥

परिहार और छेदका लक्षण

परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् ।
प्रव्रज्याहापनं छेदो मासपक्षदिनादिना ॥२६॥

अर्थ—एक महीना आदिके लिये संघसे अलग कर देना परिहार है और एक मास, एक पक्ष एक दिन आदिकी दीक्षा कम कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है ॥ २६ ॥

वैयावृत्त्य तपका लक्षण

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम् ।
कुलसङ्घमनोज्ञानां वैयावृत्यं गणस्य च ॥२७॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग् विधीयते ।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥२८॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, साधु, शैक्ष्य, ग्लान, तपस्वी, कुल, सङ्घ, मनोज्ञ

और गण इन दश प्रकारके मुनियोंको बीमारी आदिके उपस्थित होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार जो उनका प्रतीकार किया जाता है वह वैयावृत्त्य कहलाता है।

भावार्थ—'व्यावृत्ति दुःखनिवृत्ति प्रयोजनं यस्य तद् वैयावृत्त्यं' अर्थात् दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्त्य कहते है। यह वैयावृत्त्य आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियोका होता है इसलिये आश्रयके भेदसे वैयावृत्त्यतप भी दश प्रकारका माना गया है। आचार्य आदिके लक्षण इसप्रकार है—

आचार्य—संघके अधिपतिको आचार्य कहते है। यह नवीन शिष्योंको दीक्षा तथा पुराने शिष्योको प्रायश्चित्त आदि देकर पचाचारका पालन करते कराते है।

उपाध्याय—जो सघमे पढानेका काम करते है उन्हे उपाध्याय कहते है।

साधु—जो सघमे रहकर अपना हित साधन करते है उन्हे साधु कहते है।

शैक्ष्य—प्रमुखरूपसे विद्याध्ययन करनेवाले मुनि शैक्ष्य कहलाते है।

ग्लान—रोगी मुनियोंको ग्लान कहते है।

तपस्वी—पक्षोपवास तथा मासोपवास आदि करनेवाले मुनि तपस्वी कहलाते है।

कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्योंके शिष्य समूहको कुल कहते है।

सङ्घ—ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोके समूहको सङ्घ कहते है।

मनोज्ञ—लोकप्रिय साधुओको मनोज्ञ कहते है।

गण—वृद्ध मुनियोकी सन्ततिको गण कहते है॥ २७–२८॥

व्युत्सर्ग तपके दो भेद

बाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्।
क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः ॥२९॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे व्युत्सर्गतप दो प्रकारका होता है। खेत आदिक बाह्य परिग्रह है और क्रोध आदिक आभ्यन्तर परिग्रह है॥ २९॥

विनय तपके चार भेद

दर्शनज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च।
तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः ॥३०॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनयके भेदसे विनयतप चार प्रकारका होता है॥ ३०॥

दर्शनविनयका लक्षण

यत्र निःशङ्कितत्त्वादिलक्षणोपेतता भवेत् ।
श्रद्धाने सप्त तत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि ॥३१॥

अर्थ—सप्त तत्त्वोंके श्रद्धानके विषयमे जहाँ निःशङ्कता आदि लक्षणोसे सहितपना होता है वह सम्यक्त्वविनय अथवा दर्शनविनय है ॥ ३१ ॥

ज्ञानविनयका लक्षण

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि बहुत सम्मान आदिके साथ ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि करता है उसके ज्ञानविनय होता है ॥ ३२ ॥

चारित्रविनयका लक्षण

दर्शनज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता ।
चारित्रं प्रति जायेत चारित्रविनयो हि सः ॥३३॥

अर्थ—दर्शन—सम्यक्त्व और ज्ञानसे युक्त पुरुषकी चारित्रके प्रति जो उत्सुकता है—चारित्र धारण करनेकी जो लगन है वह चारित्रविनय है ॥ ३३ ॥

उपचारविनयका लक्षण

अभ्युत्थानानुगमनं वन्दनादीनि कुर्वतः ।
आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः ॥३४॥

अर्थ—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंके विषयमें अभ्युत्थान—उनके आनेपर आगे जाकर ले आना, अनुगमन—जानेपर पीछे चलकर पहुँचाना तथा वन्दना—नमस्कार आदि करनेवाले मुनिके उपचारविनय होती है ॥ ३४ ॥

ध्यानके चार भेद

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत् ॥३५॥

अर्थ—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे ध्यान चार प्रकारका कहा गया है। इनमें अन्तके दो ध्यान तपके अङ्ग हैं ॥ ३५ ॥

आर्तध्यानका लक्षण और उसके भेद

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३६॥

अर्थ—इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग, निदान और वेदनाका उदय होनेपर जो कषायसे युक्त ध्यान होता है वह संक्षेपसे आर्त्तध्यान कहा गया है।

भावार्थ—आर्तिका अर्थ दुःख है, उस आर्ति अर्थात् दुःखके समय जो होता है वह आर्त्त कहलाता है। इसके इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, निदानज और वेदनाजके भेदसे चार भेद हैं। स्त्री-पुत्र आदि इष्ट जनोके वियोगजन्य दुःखके समय जो होता है वह **इष्टवियोगज आर्त्तध्यान** है। शत्रु, सिंह, सर्प आदि अनिष्ट पदार्थोंके सयोगजन्य दुःखके समय जो होता है वह **अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान** है। आगामी भोगाकाङ्क्षाको निदान कहते है उस निदान सम्बन्धी दुःखके समय होनेवाला ध्यान **निदानज आर्त्तध्यान** है। और उदरपीड़ा आदि वेदनाओके दुःखके समय होनेवाला ध्यान **वेदनाज आर्त्तध्यान** कहलाता है॥ ३६॥

रौद्रध्यानका लक्षण और भेद

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३७॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षणके समय कषायसे युक्त जो ध्यान होता है वह संक्षेपसे रौद्रध्यान कहा गया है।

भावार्थ—'रुद्रस्य कार्यं रौद्रं' रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामवाले जीवका जो कार्य है वह रौद्र कहलाता है। 'हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षण ये क्रूर कार्य है। इनमें आनन्द माननेकी अपेक्षा रौद्रध्यानके निम्नलिखित चार भेद है—१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ स्तेयानन्द और ४ परिग्रहानन्द। इनका अर्थ शब्दोंसे ही स्पष्ट है॥ ३७॥

ध्यानका लक्षण

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते।
अन्तर्मुहूर्ततस्तच्च भवत्युत्तमसंहतेः ॥३८॥

अर्थ—तीव्र चिन्ताका किसी एक पदार्थमे रुक जाना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है और उत्तमसंहननवाले जीवके होता है॥३८॥

धर्म्यध्यानका लक्षण और भेद

आज्ञापायविपाकानां विवेकाय च संस्थितेः।
मनसः प्रणिधानं यद् धर्म्यध्यानं तदुच्यते ॥३९॥

अर्थ—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके लिये मनकी जो स्थिरता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है। यही इसके चार भेद है॥ ३९ ॥

आज्ञाविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥४०॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका निर्धार करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहलाता है॥ ४० ॥

अपायविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः।
अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम् ॥४१॥

अर्थ—ये प्राणी उन्मार्गको छोड़कर समीचीन मार्गको किस तरह प्राप्त हो सकेंगे, इस प्रकारका विचार करना अथवा चतुर्गतिके दुःखोंका चिन्तन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है॥ ४१ ॥

विपाकविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति।
भवति प्रणिधानं यद् विपाकविचयस्तु सः ॥४२॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कारण पाकर किस कर्मका किस प्रकारका फल भोगना पड़ता है ऐसा जो मनका प्रणिधान है वह विपाकविचय नामका धर्मध्यान है।

भावार्थ—कर्मोंकी आठ मूल तथा एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियोंका उदय कब, कैसा और किसके होता है ऐसा विचार करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है॥ ४२ ॥

संस्थानविचय धर्म्यध्यानका लक्षण

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम् ।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—लोकानुयोग—लोकका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंके अनुसार लोकके आकार, पर्याय और स्वभावका जो विचार है वह सस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ ४३ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम् ।
सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥४४॥

अर्थ—शुक्लध्यानके चार भेद है—पहला पृथक्त्व, दूसरा एकत्व, तीसरा सूक्ष्मक्रिया और चौथा व्युपरतक्रिया ॥ ४४ ॥

पृथक्त्वशुक्लध्यानका लक्षण

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः ।
शान्तमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥४५॥

अर्थ—शान्तमोह अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव, तीन योगोके द्वारा अनेक भेदोसे युक्त द्रव्योका जो ध्यान करता है वह पृथक्त्व नामका शुक्लध्यान कहा गया है ॥ ४५ ॥

पृथक्त्वशुक्लध्यानकी विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।
पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४६॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां विचारः संक्रमो मतः ।
वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत् ॥४७॥

अर्थ—चूँकि वितर्कका अर्थ श्रुत है और चौदह पूर्वोमें प्रतिपादित अर्थकी शिक्षासे युक्त मुनि इसका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क कहलाता है। अर्थ, शब्द और योगोंका सक्रमण—परिवर्तन वीचार माना गया है। इस ध्यानमें उक्त लक्षणवाला वीचार रहता है। इसलिये यह ध्यान सवीचार होता है ॥ ४६-४७ ॥

एकत्वशुक्लध्यानका लक्षण

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च ।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥४८॥

अर्थ—क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि तीनमेंसे किसी एक योगके द्वारा एकद्रव्यका जो ध्यान करता है वह एकत्व नामका दूसरा शुक्लध्यान है ॥ ४८ ॥

एकत्वशुक्लध्यानकी विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४९॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः ।
वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥५०॥

अर्थ—चूँकि वितर्कका अर्थ श्रुत है और चौदहपूर्वोमें प्रतिपादित अर्थको शिक्षासे युक्त मुनि एकत्वका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क होता है। अर्थ, शब्द और योगोंका संक्रमण वीचार माना गया है। ऐसे वीचारका सद्भाव इस ध्यानमें नही रहता इसलिये यह अवीचार होता है ॥ ४९–५० ॥

सूक्ष्मक्रियशुक्लध्यानका लक्षण

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलम्बनम् ।
सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥५१॥
काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद् वर्तमानो हि केवली ।
शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम् ॥५२॥

अर्थ—जो ध्यान वितर्क और वीचारसे रहित है तथा सूक्ष्मकाययोगके अवलम्बनसे होता है वह सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान है। यह समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है। अत्यन्त सूक्ष्म काययोगमें विद्यमान केवली भगवान् उस प्रकारके काययोगको रोकनेके लिये इस शुक्लध्यानका ध्यान करते है ॥५१–५२॥

व्युपरतक्रिय शुक्लध्यानका लक्षण

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम् ।
परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम् ॥५३॥

तत्पुंना रुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम् ।
सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत् ॥५४॥

अर्थ—जो वितर्क और वीचारसे रहित है तथा जिसमें योगोंका बिलकुल निरोध हो चुका है वह व्युपरतक्रिय नामका चौथा शुक्लध्यान है। यह ध्यान सर्वश्रेष्ठ शीलोंके स्वामित्वको प्राप्त होता है अर्थात् यह अठारह हजार शीलके भेदोंसे सहित होता है। जिसके सब योग रुक गये है तथा जो सत्तामें स्थित औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंका त्याग कर रहे है ऐसे सर्वज्ञ भगवान् इस उत्कृष्ट शुक्लध्यानका ध्यान करते है। यह ध्यान प्रतिपत्तिसे रहित है ॥ ५२-५४ ॥

भावार्थ—मोहजनित कलुषतासे रहित ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। इसके ऊपर कहे अनुसार चार भेद होते हैं। इनमें पहला पृथक्त्वशुक्लध्यान ग्यारहवे गुणस्थानमे होता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थोंमें यह ध्यान अष्टम गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक बतलाया गया है तथापि यहाँ वीरसेनस्वामीके कथनानुसार दशम गुणस्थान तक धर्म्यध्यान और उसके बाद ग्यारहवें गुणस्थानसे शुक्लध्यान माना गया है। इस प्रथम ध्यानमें तीनों योगोका आलम्बन रहता है तथा श्रुतके शब्द और अर्थमे परिवर्तन होता रहता है इसलिये यह वितर्क और वीचार दोनोसे सहित होता है। दूसरा एकत्व नामका शुक्लध्यान बारहवे गुणस्थानमें होता है तथा तीन योगोंमेंसे किसी एक योगके आलम्बनसे होता है। इसमें श्रुतके अर्थ तथा शब्दोका परिवर्तन नहीं होता। जिस अर्थ, श्रुत या योगके आलम्बनसे शुरू होता है अन्तर्मुहूर्त तक उसीपर स्थिर रहता है इसलिये यह वीचारसे रहित होता है। उत्कृष्टताकी अपेक्षा ये दोनों ध्यान पूर्वविद्—पूर्वोके ज्ञाता मुनिके होते हैं। तीसरा सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थानके अन्त समयमे होता है। इसमे मात्र सूक्ष्मकाययोगका आलम्बन रहता है। श्रुतका आलम्बन छूट जाता है इसलिये यह ध्यान वितर्क और वीचार दोनोंसे रहित होता है। चौथा शुक्लध्यान चौदहवे गुणस्थानमें होता है। इस ध्यानमें सूक्ष्मकाययोगका भी आलम्बन नही रहता। वितर्क और वीचार तो पहले ही छूट जाते है इसलिये यह ध्यान व्युपरतक्रिय कहलाता है ॥ ५३-५४ ॥

गुणश्रेणीनिर्जराके दश स्थान

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः ।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः ॥५५॥
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः ।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥५६॥

ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमशः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, संयत, अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणीवाला, उपशान्तमोह—ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती, क्षपकश्रेणीवाला, क्षीणकषाय—बारहवे गुणस्थानवर्ती और घातियाकर्मोंसे रहित जिनेन्द्र भगवान् ये दश क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा करनेवाले हैं ॥ ५५–५७ ॥

पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ मुनि

पुलाको वकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा ।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पञ्च कीर्तिताः ॥५८॥

अर्थ—पुलाक, दो प्रकारके वकुश, दो प्रकारके कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ—मुनि कहे गये हैं ।

भावार्थ—जो उत्तरगुणोकी भावनासे रहित हैं तथा कहीं कभी व्रतोंमें भी पूर्णताको प्राप्त नही होते वे तुच्छ धान्यके समान **पुलाक** कहलाते हैं। जो उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित हैं परन्तु व्रतोंकी पूर्णताको प्राप्त है अर्थात् जिनके मूलव्रतोंमें कभी दोष नही लगते वे **वकुश** कहलाते है। इनके शरीर वकुश और उपकरण वकुशकी अपेक्षा दो भेद है। जो शरीरको धूलि आदिसे रहित रखनेका राग रखते हैं वे **शरीर वकुश** हैं और जो अपने पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणोंको उत्तम रखना चाहते हैं वे **उपकरण वकुश** हैं। ये दोनों प्रकारके मुनि शिष्यपरिवारसे सहित रहते है। कुशीलके दो भेद हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो शिष्यरूप परिग्रहसे सहित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त होनेपर उत्तरगुणोंकी किसी तरह विराधना कर बैठते हैं वे **प्रतिसेवनाकुशील** हैं और जो मात्र संज्वलनकषायसे युक्त हैं वे **कषायकुशील** है। जिन्होंने मोहकर्मका सर्वथा क्षय कर दिया है और जो अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर नियमसे केवली बननेवाले है ऐसे बारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि **निर्ग्रन्थ** कहलाते हैं। जिन्हें घातियाकर्मोंके नष्ट होनेसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे सयोग और अयोगके भेदसे दोनों प्रकारके केवली **स्नातक** कहलाते हैं ॥५८॥

पाँच प्रकारके मुनियोंमें संयमादिका विकल्प

संयमश्रुतलेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया ।
तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम् ॥५९॥

अर्थ—संयम, श्रुत, लेश्या, लिङ्ग, प्रतिसेवना, तीर्थ, स्थान और उपपाद इन आठ अनुयोगोंके द्वारा ऊपर कहे हुए मुनि आगमके अनुसार विकल्प करनेके योग्य है।

भावार्थ—**संयम**—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील, सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयममें रहते हैं तथा कषाय कुशील सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय इन चार संयमोंमें रहते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यातसंयममें ही होते हैं।

श्रुत—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुलीश उत्कृष्टतासे पूर्ण दशपूर्वके धारक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदहपूर्वके धारक हैं। जघन्यसे पुलाकका श्रुत आचारवस्तु प्रमाण होता है। वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ मुनियोंका जघन्य श्रुत अष्टप्रवचनमातृका मात्र होता है अर्थात् पाँच समिति तथा तीन गुप्तियोंके ज्ञानमात्र होता है। स्नातक श्रुतसे रहित केवली होते हैं।

लेश्या—पुलाकमुनिके पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। यद्यपि चतुर्थसे सप्तम गुणस्थान तक सामान्यरूपसे तीन शुभ लेश्याएँ ही आगममें बताई हैं तथापि वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंके उपकरणविषयक आसक्ति होनेसे कदाचित् किञ्चित् आर्तध्यान भी संभव है। उस आर्तध्यानके कालमें कृष्णादि तीन लेश्याएँ भी सभव होती हैं। छठवें गुणस्थानमें निदानको छोडकर शेष तीन प्रकारके आर्तध्यानोंका सद्भाव आगममें प्रतिपादित है ही। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोंके एक शुक्ललेश्या ही होती है। अयोगकेवली स्नातकोंके कोई भी लेश्या नही होती।

लिङ्ग—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्गकी अपेक्षा लिङ्ग दो प्रकारका है। इनमें भावलिङ्गकी अपेक्षा पाँचो ही प्रकारके मुनि निर्ग्रन्थ—दिगम्बरमुद्राके धारक होते हैं और द्रव्यलिङ्ग—शरीरकी अवगाहना, रङ्ग और पीछी आदिकी अपेक्षा भाज्य है अर्थात् उनमें विशेषता होती है। अथवा लिङ्गका अर्थ वेद है। द्रव्य-वेदकी अपेक्षा पाँचो प्रकारके मुनि पुरुषवेदी ही होते हैं परन्तु भाववेदकी अपेक्षा छठवेंसे नवम गुणस्थान तक रहनेवाले पुलाक, वकुश और कुशील मुनियोंके तीनो वेद सभव हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोंके कोई भी वेद नही रहता।

प्रतिसेवना—प्रतिसेवनाका अर्थ विराधना है। पाँच मूलगुण—पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनत्यागमेंसे किसी एकको विराधना कदाचित् दूसरोंको जबर्दस्ती-से पुलाक मुनिके हो सकती है वह भी कारित और अनुमोदनाकी अपेक्षा होती है कृतकी अपेक्षा नही। वकुश दो प्रकारके कहे गये हैं उपकरणवकुश और शरीरबकुश। जो बहुत प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त उपकरणोंकी इच्छा रखता है वह उपकरणवकुश है और जो शरीरका सस्कार करनेवाला है वह शरीरवकुश

होता है। प्रतिसेवनाकुशील मूलगुणोंकी विराधना न करता हुआ कदाचित् उत्तरगुणोंको विराधना करता है। परन्तु कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके किसी प्रकारकी विराधना नहीं होती है।

तीर्थ—तीर्थंकरोंकी आम्नाय—धर्मप्रवर्तनको तीर्थ कहते हैं। सभी मुनि, सभी तीर्थकरोंके तीर्थमें होते है।

स्थान—कपायके निमित्तसे संयममें जो अवान्तर तारतम्य होता है उसे स्थान कहते है। सामान्यरूपसे ये स्थान असंख्यात होते हैं। इनमे पुलाक और कषायकुशीलके सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते है। ये दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते है। इसके बाद पुलाक रह जाता है—आगे नही बढ़ पाता है। आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानों तक अकेला जाता है। इससे आगे कषाय-कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। वहाँ वकुश विछुड़ जाता है—आगे जानेसे रुक जाता है। इससे भी आगे असं-ख्यात स्थान जाकर प्रतिसेवनाकुशील विछुड़ जाता है। इससे भी आगे असंख्यात स्थान जाकर कषायकुशील विछुड़ जाता है। इसके आगे कषायनिमित्तक स्थान नही है अकषाय स्थान है उन्हे निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है। वह असंख्यात स्थानों तक जाकर विछुड़ जाता है। इसके आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाणको प्राप्त होता है।

उपपाद - उपपादका अर्थ जन्म है। पुलाकमुनिका उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार नामक बारहवे स्वर्गके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोमे होता है। वकुश और प्रति-सेवनाकुशीलका उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत स्वर्गमे बाईस सागरकी स्थितिवाले देवोमे होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि) का उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें होता है। इन सभीका जघन्य उपपाद सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी स्थितिवाले देवोंमे होता है। बारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ तथा स्नातक—केवली भगवान्-का निर्वाण ही होता है॥ ५९॥

निर्जरातत्त्वका उपसंहार

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार शेष छह तत्त्वोंके साथ जो निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेवाला सप्तम अधिकार पूर्ण हुआ।

अष्टम अधिकार

(मोक्षतत्त्वका वर्णन)

मङ्गलाचरण

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् ।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा तीनों जगत्‌को प्रकाशित करनेवाले अरहन्तोंको शिरसे नमस्कारकर मोक्षतत्त्वका निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

मोक्षका लक्षण

अभावाद्बन्धहेतूनां बद्धनिर्जरया तथा ।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—बन्धके कारणोंका अभाव तथा पूर्वबद्धकर्मोकी निर्जरासे समस्त कर्मोका सदाके लिये छूट जाना मोक्ष कहलाता है ॥ २ ॥

मोक्ष किस प्रकार होता है ?

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः ।
योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते ॥ ३ ॥
ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसञ्चितकर्मणः ।
आत्मनः स्वात्मसंप्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—ऐसा जानना चाहिये कि सयोगकेवली सातावेदनीयकर्मका बन्ध करते है परन्तु योगका अभाव हो जानेसे आगे आयोग केवलीके कर्मबन्ध नही होता है। तदनन्तर जिसके पूर्व संचित समस्त कर्मोकी निर्जरा हो चुकी है ऐसे जीवके स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष शीघ्र हो जाता है ॥ ३–४ ॥

मोक्षमें किन किन भावोंका अभाव तथा सद्भाव रहता है ?

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात् ।
मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्वज्ञानदर्शनशालिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—औपशमिक आदि भाव तथा भव्यत्वभावके क्षयसे सिद्धत्व, सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शनसे सुशोभित आत्माका मोक्ष होता है।

भावार्थ—मोक्षमें औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिकभाव और पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है। किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन तथा सिद्धत्व भावका सद्भाव रहता है। क्षायिकज्ञानके सहभावी क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यका सद्भाव भी रहता है ॥ ५ ॥

कर्मबन्धका अन्त होता है

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः ।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—कर्मबन्धन सन्तति सम्बन्धी सद्भावकी आदिका अभाव होनेसे उसके अन्तके अभावका प्रसङ्ग नही आसकता, क्योंकि अन्तिम बीजके समान अनादि वस्तुका भी अन्त देखा जाता है।

भावार्थ—यदि यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि कर्मबन्धनकी सन्ततिकी जब आदि नही है तो उसका अन्त भी नही हो सकता तो उसका उत्तर यह है कि अनादि वस्तुका भी अन्त होता है। जैसे बीज अनादि कालसे चला आरहा है फिर भी उसके अन्तिम बीजका अभाव देखा जाता है ॥ ६ ॥

इसीको स्पष्ट करते हैं

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बीजके अत्यन्त जल जानेपर अङ्कुर उत्पन्न नही होता उसी प्रकार कर्मरूपी बीजके अत्यन्त जल जानेपर संसाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता ॥ ७ ॥

पुनः बन्धकी आशङ्का नहीं है

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः ।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥ ८ ॥

अर्थ—गाय आदिके समान आत्माके बन्धकी अव्यवस्था नही है, क्योंकि मिथ्यात्व आदिका क्षय हो जानेपर बन्धरूप कार्यके कारणोंका विच्छेद हो जाता है।

भावार्थ—कोई यह कहे कि जिस प्रकार गाय आदिको बन्धनसे छोड़ा जाता है और फिर भी बाँध लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा बन्धनसे मुक्त होता है और फिर भी बन्धनको प्राप्त हो जाता है सो ऐसी बात नही है क्योंकि कर्म-बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, इनका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवके फिर बन्ध नही होता है ॥ ८ ॥

जानना देखना बन्धका कारण नहीं है

जानतः पश्यतश्चोर्द्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—मुक्त जीव, मुक्त होनेके बाद भी करुणापूर्वक जगत्को जानते तथा देखते है पर इससे उनके बन्धका प्रसङ्ग नही आता, क्योकि उनके सब प्रकारके आस्रवोका पूर्णरूपसे क्षय हो चुकता है।

भावार्थ—जिस जीवके जानने, देखनेके साथ मोह तथा राग-द्वेष आदिके विकल्प रहा करते है उसीके कर्मोंका आस्रव और बन्ध हुआ करता है परन्तु मुक्त जीवके ऐसे कोई विकल्प नही रहते, इसलिये उनके जगत्को जानने देखने-पर भी बन्ध नही होता है ॥ ९ ॥

कारणके विना बन्ध संभव नहीं है

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः ।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

अर्थ—अकस्मात्—विना कारण, मुक्त जीवके बन्ध नही होता, क्योकि विना कारण बन्ध माननेपर कभी मुक्त होनेका प्रसङ्ग ही नही आवेगा। मुक्तिप्राप्तिके बाद भी उनके बन्ध हो जावेगा ॥ १० ॥

स्थानसे युक्त होनेके कारण मुक्त जीवका पतन नहीं होता।

पातोऽपि स्थानवत्त्वान्न तस्य नास्रवतत्त्वतः ।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥११॥

अर्थ—मुक्त जीव स्थानवान् है इसलिये उनका पतन होना चाहिये, यह बात भी नही है क्योकि उनके आस्रव तत्त्वका अभाव हो चुका है। लोकमे जहाजका आस्रव—जल आदिके आगमनके कारण ही नीचेको ओर निश्चितरूपसे पतन होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार घट, पट आदि पदार्द स्थानवान् है अर्थात् किसी स्थानपर स्थित है अत. कदाचित् उस स्थानसे उनका पतन भी हो जाता है

इसीप्रकार मुक्त जीव भी स्थानवान् हैं अर्थात् लोकाग्ररूप स्थानपर स्थित है अतः कदाचित् उनका भी नीचेकी ओर पतन हो सकता है, यह आशङ्का उठाना ठीक नहीं है क्योंकि स्थानसे युक्त होनेपर भी उनके आस्रवतत्त्वका अभाव हो चुका है इसलिये उनका पतन नही हो सकता। लोकमें किसी जहाजमें पानीका आस्रव—आगमन होनेपर ही उसका नीचेकी ओर पतन होता है अन्यथा नहीं ॥ ११ ॥

गौरवका अभाव होनेसे भी मुक्त जीवका पतन नहीं होता है

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥१२॥

अर्थ—स्थानवान् होनेपर भी गुरुत्वका अभाव होनेके कारण मुक्त जीवके पतनका प्रसङ्ग नही आता क्योंकि ठण्डलसे सम्बन्ध विच्छेद होनेपर गुरु—बजनदार आमका फल नीचे गिरता है।

भावार्थ—आमके दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि गुरु—बजनदार वस्तुका ही नीचेकी ओर पतन होता है। गुरुत्व पुद्गलका स्वभाव है आत्माका नही, इसलिये मुक्त हो जानेपर आत्माका मोक्षस्थानसे पतन नही होता ॥ १२ ॥

सिद्धोंमें परस्पर उपरोध—रुकावट नहीं है

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते ।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तितः ॥१३॥
नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते ।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः ॥१४॥

अर्थ—अल्पस्थानमे अनन्त सिद्ध रहते है परन्तु उनमें परस्पर उपरोध नही होता क्योंकि उनके अवगाहन शक्ति विद्यमान है। एक छोटेसे स्थानमें जब मूर्तिमान नाना दीपोके प्रकाशमें भी परस्पर घात करनेवाला विरोध नही देखा जाता तब अमूर्तिक सिद्धोंमें तो हो ही कैसे सकता है ॥ १३–१४ ॥

आकारका अभाव होनेसे मुक्त जीवोंका अभाव नहीं होता

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते ।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥१५॥

अर्थ—आकारका अभाव होनेसे मुक्त जीवके अभावका प्रसङ्ग नही आता क्योंकि मुक्तजीव, मुक्त होनेसे निकट पूर्वकालमें छोड़े हुए शरीरका आकार धारण करते हैं।

भावार्थ—मुक्त जीवमें आकारका अभाव नहीं है क्योंकि वे अन्तिम शरीरका आकार धारण करनेवाले है। इस स्थितिमें अनाकार मानकर उनका अभाव नही माना जा सकता है॥ १५॥

शरीरका अभाव होनेपर आत्मा सर्वत्र फैलता नहीं है

शरीरानुविधायित्वे तत्तदभावाद्विसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः॥१६॥

अर्थ—यदि आत्माका आकार शरीरके अनुरूप होता है तो शरीरका अभाव होनेपर लोकाकाशप्रमाण आत्माको सर्वत्र फैल जाना चाहिये, यह बात नही है, क्योकि फैलनेका कोई कारण नही है।

भावार्थ—शरीर नामकर्मके सम्बन्धसे आत्मामें संकोच और विस्तार होता है मुक्त जीवके उसका अभाव हो चुकता है इसलिये उसके सर्वत्र फैलनेका प्रसङ्ग नही आता है॥ १६॥

दृष्टान्तद्वारा समर्थन

शरावचन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगतः।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा॥१७॥
संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे॥१८॥

अर्थ—जिसप्रकार शकोरा—मिट्टीका वर्तन और चन्द्रशाला—उपरितनगृह आदि पदार्थरूप आलम्बनोके योगसे दीपकका प्रकाश छोटा और बड़ा होता है उसी प्रकार आत्मा, अनात्मा—अर्थात् शरीरके योगसे सकोच और विस्तारके समय छोटा और बडा मालूम होता है। चूँकि मुक्त जीवके शरीरका अभाव हो चुकता है इसलिये सकोच और विस्तार दोनों ही नही होते हैं।

भावार्थ—यदि दीपकको मिट्टीके शकोरामें रखते हैं तो उसका प्रकाश संकुचित होकर उसीमे समा जाता है और किसी बड़े घरमे रखते है तो विस्तृत होकर उसमे समा जाता है। वास्तवमे प्रकाशके प्रदेश जितने है उतने ही है परन्तु बाह्य आलम्बनके योगसे संकोच और विस्ताररूप होनेसे छोटे-बड़े मालूम होते है। इसी प्रकार आत्माके प्रदेश परिमाणकी अपेक्षा लोकाकाशके बराबर है अर्थात् आकाशके एक प्रदेशके ऊपर आत्माका एक प्रदेश स्थित हो तो आत्मा समस्त लोकाकाशमे फैल सकता है परन्तु आत्माका संकुचित और विस्तृत होना शरीरके परिमाणपर निर्भर है। मुक्त जीवके शरीरका अभाव हो जाता है इसलिये

उसका संकुचित और विस्तृत होना बन्द हो जाता है। मुक्त जीवका परिमाण अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है। प्रश्न यह था कि जिस प्रकार शकोरा आदि बाह्य पदार्थका आलम्बन हटनेपर दीपकका प्रकाश फैल जाता है इसी प्रकार शरीरका आलम्बन हटनेपर आत्मा लोकाकाशमें क्यो नहीं फैल जाता है। उसका उत्तर यह दिया गया है कि आत्मामें यद्यपि संकुचित और विस्तृत होनेकी शक्ति है तथापि शरीर नामकर्मका अस्तित्व रहते ही वह शक्ति अपना कार्य कर सकती है उसके अभावमें नहीं। मुक्त जीवके चूँकि शरीरनामकर्मका अस्तित्व नही है इसलिये उनकी आत्माका लोकाकाशके बराबर फैल जाना संभव नही होता है॥ १७-१८ ॥

मुक्तजीव, मुक्त होनेके स्थानपर अवस्थित नहीं रहकर ऊर्ध्वगमन करते हैं

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्द्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः ॥१९॥

अर्थ—किसी जीवकी, सांकलसे छुटकारा होनेपर उसी स्थानपर स्थिति देखी जाती है परन्तु मुक्त जीवका चूँकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये कर्म-बन्धनसे छुटकारा मिलनेपर उसी स्थानपर स्थिति नही रहती॥ १९ ॥

भावार्थ—मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये वह कर्मोंसे मुक्त होते ही ऊपरकी ओर गमन करता है। इसका यह गमन लोकके अन्त भाग तक होता है। एक समयमें वहाँ पहुँच जाता है और उसके बाद अनन्त कालके लिये वही स्थिर हो जाता है॥ १९ ॥

कर्मक्षयका क्रम

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥२०॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कात्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥२१॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥२२॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा बालो विनश्यति।
तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥२३॥
ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥२४॥

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥२५॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥२६॥

अर्थ—जब यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रसे अत्यन्त युक्त होता है, आस्रवसे रहित होनेके कारण नवीन कर्मोंकी सन्तति कट जाती है तथा यह आत्मा पहले कहे हुए क्षयके कारणोंके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय करने लगता है तब संसारका बीजभूत मोहनीय कर्म सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीन कर्म एक साथ सम्पूर्णरूपसे नष्ट होते है। जिसप्रकार गर्भसूचीके नष्ट होनेपर बालक मर जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर उक्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर जिसके चार घातियाकर्म नष्ट हो चुके हैं, जो अथाख्यात—अथवा यथाख्यात चारित्रको प्राप्त है जो बीजबन्धसे निर्मुक्त है, स्नातक है, परमेश्वर है, शेष बचे हुए चार अघातिया कर्मोंकी अपेक्षासे सहित है अर्थात् उनका फल भोग रहा है, शुद्ध है, बुद्ध है, नीरोग है, सर्वज्ञ है और सर्वदर्शी है ऐसा आत्मा केवली जिन—केवलज्ञानी अरहन्त होता है। उसके बाद जिसने प्राप्त इन्धनको जला दिया है तथा जिसके नवीन इन्धनकी सन्तति नष्ट हो चुकी है ऐसी अग्नि जिसप्रकार निर्वाणको प्राप्त होती है—बुझ जाती है उसी प्रकार उक्त आत्मा समस्त कर्मोंका क्षय होनेसे निर्वाणको प्राप्त होता है—मोक्षको प्राप्तकर लेता है ॥ २०-२६ ॥

मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनस्वभावका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन

तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वाद्बन्धच्छेदोद्र्ध्वगौरवैः ॥२७॥
कुलालचक्रे डोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२८॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाम्बुनः ।
कर्मबन्धविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२९॥
एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदाज्जीवस्यापि तथेष्यते ॥३०॥

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥३१॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥३२॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥३३॥
अधस्तिर्यक्तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥३४॥

अर्थ—समस्त कर्मोका क्षय होनेके बाद वह जीव पूर्वप्रयोग, असङ्गत्व, बन्धच्छेद तथा ऊर्ध्वगौरव स्वभाव इन चार कारणोंसे लोकके अत तक गमन करता है। जिस प्रकार कुम्भकारके चक्र, हिंडोला और बाणमे पूर्वप्रयोगसे—पहलेके संस्कारसे कर्म—क्रिया होती है उसी प्रकार पूर्वप्रयोगसे सिद्धजीवोंकी गति मानी गई है। जिस प्रकार मिट्टीके लेपका सङ्ग छूट जानेसे पानीमें तूमड़ी की ऊर्ध्वगति मानी गई है। जिस प्रकार बोड़ीका बन्धन नष्ट होने पर चटकती हुई एरण्डकी बिजीमे ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार कर्मबन्धनके नष्ट होनेसे मुक्तजीवकी ऊर्ध्वगति मानी जाती है। जिस प्रकार पत्थरके ढेलोकी गति नीचेकी ओर, वायुकी गति तिरछी-चारों ओर और अग्निकी ज्वालाओकी गति ऊपरकी ओर स्वभावसे होती है उसी तरह मुक्तजीवोकी गति ऊपरकी ओर स्वभावसे होती है। जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले है और पुद्गल अधोगति स्वभाववाले है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। उन जीव और पुद्गलोंमें जो गतिकी विकृति—विभिन्नता पाई जाती है वह कर्मोके कारण, किसी अन्य वस्तुके प्रतिघातसे अथवा प्रयोगविशेषसे मानी जाती है। ससारी जीवोंकी कर्मजन्य गति नीचे, तिरछी और ऊपरकी ओर होती है परन्तु कर्मरहित जीवोकी गति स्वभावसे ऊपरकी ओर ही होती है॥ २७-३४॥

कर्मक्षय और ऊर्ध्वगमन साथ ही साथ होती है

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥३५॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह ।
युगपद्भवतो यद्वत्तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥३६॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्यकर्मकी उत्पत्तिका प्रारम्भ और विनाश साथ ही साथ होते है उसी प्रकार सिद्ध भगवान्की मोक्षविषयक गति संसारका क्षय होते ही साथ-ही-साथ होती है। जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका विनाश एक साथ होता है उसी प्रकार निर्वाणकी उत्पत्ति और कर्मका विनाश एक साथ होता है ।। ३५-३६ ।।

सिद्ध भगवान्के किस कर्मके अभावमें कौन गुण प्रकट होता है ?

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः ।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ।।३७।।
वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।
मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ।।३८।।
आयुःकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ।
नामकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ।।३९।।
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरवलाघवाः ।
अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ।।४०।।

अर्थ—वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञानसे सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्मका क्षय होनेसे केवलदर्शनसे सहित होते है, वेदनीय कर्मका क्षय होनेसे अव्याबाधत्वगुणको प्राप्त होते हैं, मोहनीय कर्मका विनाश होनेसे अविनाशी सम्यक्त्वको प्राप्त होते है, आयुकर्मका विच्छेद होनेस अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नामकर्मका उच्छेद होनेसे सूक्ष्मत्वगुणको प्राप्त है, गोत्रकर्मका विनाश होनेसे सदा अगुरुलघुगुणसे सहित होते है और अन्तरायका नाश होनेसे अनन्तवीर्यको प्राप्त होते है ।। ३७-४० ।।

सिद्धोंमें विशेषताके कारण क्या है ?

काललिङ्गगतिक्षेत्रतीर्थज्ञानावगाहनैः ।
बुद्धबोधितचारित्रसङ्ख्याल्पबहुतान्तरैः ।।४१।।
प्रत्युत्पन्ननयादेशात्ततः प्रज्ञापनादपि ।
अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम् ।।४२।।

अर्थ—प्रमादरहित विद्वानों द्वारा वर्तमान नय तथा भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा काल, लिङ्ग, गति, क्षेत्र, तीर्थ, ज्ञान, अवगाहना, बुद्धबोधित,

चारित्र, संख्या, अल्पबहुत्व और अन्तर इन बारह अनुयोगोंसे सिद्ध भगवान् आगमके अनुसार साधनीय है—विचार करने योग्य है।

भावार्थ—जो नय वर्तमानपर्यायको ग्रहण करता है वह प्रत्युत्पन्न नय है और जो भूतपर्यायको ग्रहण करता है वह प्रज्ञापन नय है। इन दोनों नयोंकी अपेक्षा सिद्ध भगवान्की विशेषताका विचार काल आदि अनुयोगोंसे आगममें किया गया है। जैसे—

काल—कालकी अपेक्षा यह जीव एक समयमें और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीमे सामान्यरूपसे सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है—मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा दो तरहसे सिद्ध होता है—एक जन्मकी अपेक्षा और दूसरा सहरणकी अपेक्षा। जन्मकी अपेक्षा सामान्यरूपसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है। विशेषरूपसे अवसर्पिणीके सुषमादु.षमा नामक तृतीयकालके अन्तिम भाग तथा दु.षमसु षमा नामक चतुर्थकालमे उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है। दु षमासुषमा नामक चतुर्थकालमे उत्पन्न हुआ जीव दु.षमा नामक पञ्चमकालमें सिद्ध हो सकता है परन्तु पञ्चमकालमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध नही होता। सहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके सब कालोंमें सिद्ध होता है अर्थात् तृतीयकालके अन्तिम भाग और चतुर्थकालके सम्पूर्ण समयमें उत्पन्न हुए मनुष्यको यदि कोई व्यन्तरादि देव उठाकर जहां प्रथमादिकाल वर्त रहा है ऐसे भोगभूमिके या जहाँ पञ्चम या षष्ठ काल वर्त रहा है ऐसे कर्मभूमिके क्षेत्रमे रख देवे तो वहांसे भी वह सिद्ध हो सकता है।

लिङ्ग—लिङ्गका अर्थ वेद है। वेदके स्त्री, पुरुष और नपुंसककी अपेक्षा तीन भेद है। ये तीनो वेद भाव और द्रव्यकी अपेक्षा दो-दो प्रकारके हैं। द्रव्यवेद की अपेक्षा सिर्फ पुरुषवेदसे ही यह जीव सिद्ध होता हे परन्तु भाववेदकी अपेक्षा तीनों वेदोसे सिद्ध हो सकता है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा अवेदसे ही सिद्ध होता है क्योकि वेदका सद्भाव नवम गुणस्थान तक रहता है और मोक्ष चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें होता है। किन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तीनो वेदोसे सिद्ध हो सकता है। अथवा लिङ्गका दूसरा अर्थ मुद्रा अथवा वेष भी भी है। उस अपेक्षा लिङ्गके दो भेद है—एक निर्ग्रन्थलिङ्ग और दूसरा सग्रन्थ लिङ्ग। इनमें प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिङ्ग—दिगम्बर मुद्रासे ही सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिङ्गसे भी सिद्ध होता है।

गति—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धिगतिमें ही सिद्ध होता है अर्थात् इस जीवमें सिद्धत्वका व्यवहार तभी होता है जब यह चारों गतियोंसे निर्मुक्त हो

जाता है। भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अनन्तर गति और एकान्तर गतिसे चर्चा होती है। अनन्तर गतिकी अपेक्षा सिर्फ मनुष्यगतिसे सिद्ध होता है और एकान्तर गतिकी अपेक्षा चारों गतियोंमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है।

क्षेत्र—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र अथवा स्वकीय आत्म-प्रदेशोंमें सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोमें उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध होता है। संहरणकी अपेक्षा समस्त अढ़ाई द्वीपसे सिद्ध होता है।

तीर्थ—कोई जीव तीर्थकर होकर सिद्ध होता है और कोई तीर्थकर हुए विना ही सिद्ध होता है। जो तीर्थकर हुए विना सिद्ध होता है वह भी दो प्रकारका है—कोई तो तीर्थकरके रहते हुए सिद्ध होता है और कोई तीर्थकरके मुक्त हो जानेके वाद सिद्ध होता है।

ज्ञान—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिर्फ केवलज्ञानसे ही जीव सिद्ध होता है और भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा मति, श्रुत इन दो ज्ञानोसे, मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मन पर्यय इन तीन ज्ञानोसे और मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय इन चार ज्ञानोंसे सिद्ध होता है।

अवगाहन—अवगाहनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यकी अपेक्षा तीन भेद हैं। उत्कृष्ट अवगाहनाकी अपेक्षा पाँचसौ पच्चीस धनुषकी अवगाहनावाला मनुष्य और जघन्य अवगाहनाकी अपेक्षा साडे तीन हाथकी अवगाहनावाला मनुष्य सिद्ध होता है इससे अधिक और कम अवगाहनावाला मनुष्य सिद्ध नही होता। मध्यम अवगाहनाके अनेक विकल्प हैं।

बुद्धबोधित—कोई मनुष्य पूर्वभवसम्बन्धी सस्कारकी प्रबलतासे स्वय ही विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण कर सिद्ध होता है और कोई मनुष्य दूसरेके समझानेपर विरक्त हो मुनिदीक्षा धारण कर सिद्ध होता है। जो स्वयं विरक्त होता है उसे वुद्ध अथवा प्रत्येकबुद्ध या स्वयबुद्ध कहते है और जो दूसरेके समझानेपर विरक्त होता है वह बोधितबुद्ध कहलाता है।

चारित्र—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा न चारित्रसे और न अचारित्रसे सिद्ध होता है किन्तु ऐसे भावसे सिद्ध होता है जिसे चारित्र या अचारित्र कुछ भी नही कहते है। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अनन्तर और व्यवहितके भेदसे दो प्रकारकी चर्चा होती है। अनन्तर भेदकी अपेक्षा सिर्फ यथाख्यातचारित्रसे मनुष्य सिद्ध होता है और व्यवहितकी अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन चार प्रकारके चारित्रोसे अथवा जिस जीवके परिहारविशुद्धि नामका चारित्र होता है उसकी अपेक्षा सामायिक आदि पाँचों चारित्रोंसे सिद्ध होता है।

संख्या—जघन्यकी अपेक्षा एक समयमें एक और उत्कृष्टकी अपेक्षा एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व—क्षेत्र आदिके भेदसे विशेषताको प्राप्त हुए सिद्ध जीवोंमें जो संख्याकी अपेक्षा हीनाधिकता होती है उसे अल्पबहुत्व कहते है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सब जीव सिद्धिक्षेत्रमें ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनमें किसी प्रकारका अल्पबहुत्व नही है। परन्तु जब भूतपूर्व नयकी अपेक्षा चर्चा होती है तब अल्पबहुत्व सिद्ध होता है। जैसे क्षेत्रसिद्ध जन्म और संहरणकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। उनमें सहरणसिद्ध अल्प है और जन्मसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है। सहरण भी स्वकृत और परकृतकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है। देव या विद्याधरोंके द्वारा किया हुआ सहरण परकृत संहरण है और चारण ऋद्धिके धारक कोई मुनि स्वयं ही जब किसी भोगभूमि आदिके क्षेत्रमें जाकर विराजमान होते हैं तब स्वकृतसंहरण कहलाता है। क्षेत्रोंके कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व, अधस्तात् और तिर्यक्के भेदसे अनेक भेद है। इनमे ऊर्ध्वलोक—आकाशसे सिद्ध होनेवाले सबसे कम है, अधोलोक—गुफा आदि निम्नप्रदेशोंसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे है, तिर्यक्लोक—समान धरातलपर स्थित द्वीप समुद्रोंसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा संख्यातगुने हैं। समुद्रसिद्ध सबसे अल्प हैं, द्वीपसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है। यह सामान्यकी अपेक्षा चर्चा है। विशेषताकी अपेक्षा लवणसमुद्रसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े है, कालोदधिसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे है, जम्बूद्वीपसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं, धातकीखण्डसे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे है, और पुष्करार्धसे सिद्ध होनेवाले उनसे भी संख्यातगुणे है। अकर्मभूमिसे सिद्ध होनेवाले अल्प है और कर्मभूमिसे सिद्ध होनेवाले उनके सख्यातगुणे है। कालके उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकी अपेक्षा तीन भेद है। इनमें उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे थोडे हैं, अवसर्पिणी सिद्ध उनको अपेक्षा विशेष अधिक है और अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणीसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। यह भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा चर्चा है। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समयमें ही सिद्ध होते है इसलिये उनमे अल्पबहुत्का विचार नहीं होता है। गति अनुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे सब सिद्धिगतिमें ही सिद्ध होते है इसलिये अल्पबहुत नहीं है। तथा भूतपूर्वनयकी अपेक्षा अनन्तर गतिकी अपेक्षा सब मनुष्यगतिमे सिद्ध होते है इसलिये उनमें भी अल्पबहुत्व नहीं है किन्तु एकान्तर गतिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व होता है। जैसे तिर्यग् अनन्तर गतिसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े है, मनुष्य अनन्तर गतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं, नरक अनन्तरगतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे असंख्यातगुणे हैं और देव अनन्तरगतिसे सिद्ध होनेवाले उनसे असंख्यातगुणे है। लिङ्गकी अपेक्षा चर्चा

करनेपर प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे सब जीव अवेद अवस्थामें ही सिद्ध होते हैं इसलिये कोई अल्पबहुत्व नही है परन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी विवक्षासे नपुंसक वेदसिद्ध सबसे थोड़े है, स्त्रीवेदसिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं और पुवेदसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है। तीर्थानुयोगकी अपेक्षा तीर्थकरसिद्ध थोड़े हैं और सामान्यसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। चारित्रानुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे चर्चा करनेपर चूँकि सब अव्यपदेशभावसे सिद्ध होते हैं इसलिये कोई अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी विवक्षासे भी यथाख्यातचारित्र नामक अनन्तर चारित्र-कोई अल्पबहुत्व नही है। व्यवधानकी अपेक्षा सामायिकादि पाँचो चारित्रके समूहसे सिद्ध होनेवाले अल्प है और परिहारविशुद्धि रहित चार चारित्रोंके समूहसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे है। बुद्धबोधित अनुयोगकी अपेक्षा प्रत्येकबुद्ध थोडे है और बोधितबुद्ध उनसे सख्यातगुणे है। ज्ञानानुयोगकी अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नयकी विवक्षासे सब केवलज्ञानसे सिद्ध होते है इसलिये अल्पबहुत्व नहीं है। किन्तु भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा द्विज्ञानसिद्ध सबसे अल्प है, चतुर्ज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है और त्रिज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है। यह सामान्यकी अपेक्षा चर्चा है। विशेषकी अपेक्षा मतिश्रुतमन पर्ययज्ञानसिद्ध सबसे थोडे है, मतिश्रुतज्ञानसिद्ध उनके सख्यातगुणे है, मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है और मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है। अवगाहनानुयोगकी अपेक्षा अनन्तर अवगाहनाकी विवक्षासे चर्चा करनेपर जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे है, उत्कृष्ट अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं, यवमध्यसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है, अधस्ताद्यवमध्यसिद्ध उनसे सख्यातगुणे है और ऊर्ध्व यवमध्मसिद्ध उनसे कुछ विशेष अधिक है। अनन्तर अनुयोगकी अपेक्षा अष्टसमयानन्तर सिद्ध सबसे थोड़े है, सप्तसमयानन्तरसिद्ध उनसे संख्यातगुणे है, इस तरह द्विसमयानन्तर सिद्धो तक असख्यातगुणे-असख्यातगुणे हैं। सख्यानुयोगकी अपेक्षा अष्टोत्तरशतसिद्ध सबसे थोड़े है, अष्टोत्तरशतसिद्धोसे लेकर पञ्चाशत् सिद्धो तक अनन्तगुणे-अनन्तगुणे है, एकोनपञ्चाशत् सिद्धोंसे लेकर पञ्चविंशति सिद्धों तक असख्यातगुणे है और चतुर्विंशति सिद्धोसे लेकर एकसिद्धो तक उत्तरोत्तर संख्यातगुणे-सख्यातगुणे है।

अन्तर—जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टकी अपेक्षा छह्मासका अन्तर जानना चाहिये॥ ४१-४२॥

सिद्धोंकी अन्य विशेषता

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निःक्रियाः ॥४३॥

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥४४॥

अर्थ—वे सिद्ध भगवान् तादात्म्यसम्बन्ध होनेके कारण केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमें सदा उपयुक्त रहते हैं तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्थाको प्राप्त हैं। हेतुका अभाव होनेसे वे निःक्रिया—क्रियासे रहित हैं। यहाँ कोई ऐसा विचार करे कि लोकान्तके आगे भी सिद्धोकी गति क्यो नही होती है तो उसका उत्तर यह है कि लोकान्तके आगे धर्मास्तिकायका अभाव है। वास्तवमे धर्मास्तिकाय गतिका **परम** कारण है।

भावार्थ—सिद्धोके औपशमिक आदि भावोका तो अभाव हो जाता है परन्तु सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्वगुण उनमे सदा विद्यमान रहते है। सिद्धोंका केवलज्ञान और केवलदर्शन सदा उपयोगरूप ही होता है। उनमे लब्धि अवस्था नही रहती। सिद्ध होनेके बाद ही वे ऊर्ध्वगति स्वभाववाले होनेसे उद्ध्वगमनके द्वारा लोकके अन्तमें पहुँच जाते हैं। लोकके अन्तमे पन्द्रहसौ पचहत्तर धनुष प्रमाण विस्तारसे युक्त तनुवात वलय है। उसके उपरितन भागके पाँचसौ पच्चीस धनुषका क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। उसीमें सिद्धोंका निवास है। सब सिद्धोके शिर समान स्थानपर है और नीचेका भाग अपनी-अपनी अवगाहनाके अनुसार नीचा रहता है। जिनकी अवगाहना पाँचसौ पच्चीस धनुषकी होती है वे पूरे सिद्धक्षेत्रमे ऊपरसे नीचे तक स्थित रहते है। एक समयकी क्रियाके बाद सिद्ध भगवान् सदाके लिये निष्क्रिय हो जाते हैं। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब सिद्धोका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है तब वे लोकान्तके आगे आलोकाकाशमे भी क्यो नही चले जाते ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि गमनका सहकारी कारण धर्मास्तिकाय है उसका सद्भाव लोकान्त तक ही है, आगे नही, इसलिये कारणके अभावमें आगे गमन नहीं होता है ॥४३–४४॥

सिद्धोंके सुखका वर्णन

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५॥

अर्थ—सिद्धोंका सुख ससारके विषयोंसे अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परमऋषियोंने कहा है ॥ ४५ ॥

शरीररहित सिद्धोंके सुख किस प्रकार हो सकता है ?

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु ॥४६॥

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥४७॥
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ॥४८॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४९॥

अर्थ—यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीररहित एवं अष्टकर्मोंको नष्ट करने वाले मुक्तजीवके सुख कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है, सुनो। इस लोकमे विषय, वेदनाका अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थोंमें सुख शब्दका प्रयोग होता है। जैसे अग्नि सुखरूप है, वायु सुखरूप है, यहाँ विषय अर्थमे सुखशब्द कहा जाता है। दुःखका अभाव होनेपर पुरुष कहता है कि मै सुखी हूँ यहाँ वेदनाके अभावमे सुखशब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रियोके इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ सुख होता है। यहाँ विपाक—कर्मोदयमें सुखशब्दका प्रयोग है। और कर्मजन्यक्लेशसे छुटकारा मिलनेसे मोक्षमे उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थमे सुखका प्रयोग है।

भावार्थ—मोक्षमे मुक्तजीवके यद्यपि शरीर नही है और न किसी कर्मका उदय है तथापि कर्मजन्यक्लेशोंसे छुटकारा मिल जानेके कारण उन्हे सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है। सुख आत्माका स्वाभाविक गुण है परन्तु मोहादि कर्मोके उदयकालमे उसका स्वाभाविक परिणमन न होकर दु:खरूप वैभाविक परिणमन होता है। मुक्तजीवके इन मोहादि कर्मोका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसीलिये उनके सुखगुणका स्वाभाविक परिणमन होता है। यही कारण है कि उनके समान सुख ससारमे किसी अन्य प्राणीके नही होता है॥ ४६–४९॥

मुक्तजीवोंका सुख सुषुप्त अवस्थाके समान नहीं है

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखातिशयतस्तथा ॥५०॥
श्रमक्लेममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥५१॥

अर्थ—कोई कहते है कि निर्वाण सुषुप्त अवस्थाके तुल्य है परन्तु उनका वैसा कहना अयुक्त है—ठीक नही है क्योंकि मुक्तजीव क्रियावान् है जब कि सुषुप्तावस्थामे कोई क्रिया नहीं होती तथा मुक्तजीवके सुखकी अधिकता है जबकि सुषुप्त अवस्थामे सुखका रञ्चमात्र भी अनुभव नही होता। सुषुप्तावस्था

को उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और कामसेवनसे होती है तथा उसमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मोहकी उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्तजीवके यह सब संभव नही है ॥ ५०–५१ ॥

मुक्तजीवका सुख निरुपम है

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥५२॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः ।
अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥५३॥

अर्थ—समस्त ससारमें उसके समान अन्य पदार्थ नही है जिससे कि मुक्तजीवोके सुखकी उपमा दी जा सके, इसलिये वह निरुपम माना गया है। लिङ्ग अर्थात् हेतुसे अनुमानमें और प्रसिद्धिसे उपमानमें प्रामाणिकता आती है परन्तु मुक्तजीवोका सुख अलिङ्ग है—हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाणका विषय न होकर अनुपम माना गया है ॥ ५२–५३ ॥

अर्हन्त भगवान्की आज्ञासे मुक्तजीवोंका सुख माना जाता है।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम् ।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया ॥५४॥

अर्थ—मुक्तजीवोका वह सुख अर्हन्त भगवान्के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीके द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिये 'वह है' इस तरह विद्वज्जनोके द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवोंकी परीक्षासे वह स्वीकृत नही किया जाता।

भावार्थ—अर्हन्त भगवान्ने प्रत्यक्ष अनुभव कर मुक्त जीवोंके सुखका निरूपण किया है इसलिये उसका सद्भाव माना जाता है ॥ ५४ ॥

मोक्षतत्त्वका उपसंहार

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥५५॥

अर्थ—इस प्रकार शेष छह तत्त्वोके साथ जो मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् रागद्वेषरहित प्रवृत्ति करता है वह नियमसे निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसारमे मोक्षतत्त्वका वर्णन करनेवाला अष्टम अधिकार पूर्ण हुआ।

उपसंहार

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः ।
सप्ततत्त्वीमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ।। १ ।।

अर्थ—इसप्रकार प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत्संख्या आदि उपायोसे सात तत्त्वोंके समूहको जानकर मोक्षमार्गका आश्रय लेना चाहिये ।। १ ।।

मोक्षमार्गकी द्विविधता

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ।। २ ।।

अर्थ—निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उनमे पहला अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है ।। २ ।।

निश्चयमोक्षमार्गका कथन

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ।। ३ ।।

अर्थ—अपने शुद्ध आत्माका जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षाभाव है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही निश्चय मोक्षमार्ग है ।। ३ ।।

व्यवहारमोक्षमार्गका निरूपण

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनाम् ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ।। ४ ।।

अर्थ—और जो परपदार्थोका श्रद्धान, ज्ञान तथा उपेक्षाभाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है ।। ४ ।।

व्यवहारी मुनिका लक्षण

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ।। ५ ।।

अर्थ—जो परद्रव्यकी श्रद्धा करता है, परद्रव्यको ही जानता है और परद्रव्यके प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह व्यवहारी मुनि माना गया है ॥ ॥ ५ ॥

निश्चयी मुनिका लक्षण

स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो स्वद्रव्यकी श्रद्धा करता है, स्वद्रव्यको जानता है और स्वद्रव्यके प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह निश्चयनयसे श्रेष्ठ मुनि है ॥ ६ ॥

अभेदविवक्षासे षट्कारकोंका वर्णन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उपद्रवसे रहित होनेके कारण स्वस्थ है—अपने आपमें स्थिर है ऐसा आत्मा ही ज्ञायक होनेसे ज्ञान, सम्यक्त्व और चारित्र है।

भावार्थ—यहाँ अभेदनयकी अपेक्षा गुणगुणीके भेदको गौणकर आत्माको ही सम्यक्त्वादिगुणरूप कहा गया है ॥ ७ ॥

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो आत्मा स्वरूपको देखता है, जानता है और उसीमें चरण करता है वह आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों रूप है अथवा ये तीनों आत्मा ही है ॥ ८ ॥

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपको देखता है, जानता है और जिसका आचरण करता है वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, आत्मा ही इन तीनों रूप है ॥ ९ ॥

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ—आत्मा जिस रूपसे देखा जाता है, जाना जाता है और आचरण किया जाता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ १०॥

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥११॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपके लिये देखता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ ११॥

यस्मात्पश्यति जानाति स्वं स्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१२॥

अर्थ—आत्मा जिस स्वरूपसे अपने आपको देखता है, जानता है, और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ १२॥

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचरित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१३॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपका दर्शन करता है, ज्ञान करता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनो रूप है॥ १३॥

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरित्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस स्वरूपमें श्रद्धा करता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ १४॥

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१५॥

अर्थ—जो स्वभावसे दर्शन, ज्ञान और आचरणरूप क्रियासे तन्मय हैं वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है॥ १५॥

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥१६॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान और चारित्रगुणोंका आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उन तीनों रूप आत्मा ही माना गया है॥ १६॥

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥१७॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्यायोंका जो आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप स्मरण किया गया है ॥ १७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥१८॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो प्रदेश कहे गये है वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके ही प्रदेश है ॥ १८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥१९॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो अगुरुलघु नामक गुण है वे दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप आत्माके ही गुण है ॥ १९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ते ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥२०॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके जो ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके ही है ॥ २० ॥

पर्यायार्थिक और निश्चयनयसे मोक्षमार्गका कथन

शालिनीछन्दः

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः
पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥२१॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा अद्वितीय रहनेवाला एक ज्ञानी आत्मा ही मोक्षमार्ग है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थसारग्रन्थका फल

वसन्ततिलकाछन्द

तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निःप्रकम्पः ।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह—
श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति ॥२२॥

अर्थ—मध्यस्थ बुद्धिको धारण करनेवाला जो पुरुष इस तरह तत्त्वार्थसारको जानकर निश्चल चित्त होता हुआ मोक्षमार्गका आश्रय लेता है वह निर्मोह संसारबन्धको दूर कर चैतन्यस्वरूप अविनाशी मोक्षतत्त्वको प्राप्त होता है ॥२२॥

ग्रन्थकर्ताकी निरभिमानता

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥२३॥

अर्थ—वर्ण—अक्षर, पदोंके कर्ता है, पदोंका समूह वाक्योंका कर्ता है और वाक्य इस शास्त्रके कर्ता हैं, हम—अमृतचन्द्राचार्य नही है ॥ २३ ॥

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणा कृति तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम् ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्यकी कृति तत्त्वार्थसार नामका मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ ।

टीकाकर्तृनिवेदनम्

अमृतेन्दुर्महासूरिर्नानानयविशारदः ।
ग्रन्थं तत्त्वार्थसारं यं रचयामास सत्कृपः ॥ १ ॥
तस्येमा सरलां टीकां राष्ट्रभषामयीं सुधीः ।
गल्लीलालतनूजातो जानक्युदरसंभवः ॥ २ ॥
पन्नालालो महाबालो विदधौ सागरस्थितः ।
पञ्चनवचतुर्युग्मवर्षे वीराब्दसज्ञिते ॥ ३ ॥
ज्येष्ठस्य कृष्णपक्षस्य नवम्यां सत्तिथौ शुभा ।
पूर्णेषा विदुषामस्तु ज्ञानवर्धनतत्परा ॥ ४ ॥
आज्ञानेन प्रमादेन दोषा ये विहिता मया ।
बुधैः सशोधनीयास्ते ज्ञानभूषाविभूषितैः ॥ ५ ॥
अज्ञोऽहमल्पविद्योऽह विविधद्वन्द्वतत्परः ।
अमृतेन्दुं क्षमा याचे कृते दोषस्य सन्ततेः ॥ ६ ॥
कृतिरेशा प्रयासो मे दिनानामेकविशतेः ।
पूर्णा निर्विघ्नरूपेण हृदयं मोदते ततः ॥ ७ ॥

●

पद्यानुक्रमणी

शब्दानुक्रमणी

ग्रन्थमालाके संरक्षक-सदस्योंकी नामावली

१. श्री पं० वंशीरेलाल पन्नालालजी जैन, अकलतरा
२. श्री सेठ भगवानदास शोभालालजी जैन, सागर
३. श्री मोहनलालजी सेठी, दुर्ग
४. श्री पं० बालचन्द्र सुरेशचन्द्रजी जैन, नवापारा-राजिम
५. श्री सेठ राजकुमारसिंहजी, इन्दौर
६. श्री ला०प्रेमचन्द्रजीजैनावॉच, दिल्ली
७. ,, ला० जुगमन्दिरदासजी जैन, कलकत्ता
८. ,, ला० मोतीलालजी जैन, दिल्ली
९. ,, पं० रविचन्द्रजी जैन, दमोह
१०. ,, मोतीलालजी जैन, वड़कुल जबलपुर
११. ,, स० सिं० धन्यकुमारजी जैन, कटनी
१२. ,, बी०आर०सी० जैन, कलकत्ता
१३. ,, बा० नृपेन्द्रकुमारजी जैन, कलकत्ता
१४. ,, दि० जैन मारवाड़ी ट्रस्ट, इन्दौर
१५. ,, ला० रघुवरदयालजी जैन, दिल्ली
१६. ,, बा० महेशचन्द्रजी जैन एम० ए०, हस्तिनापुर
१७. ,, सिं०बदलीदास छोटेलाल जी, झाँसी
१८. ,, सिं० श्रीनन्दनलालजी जैन, बीना
१९. ,, लाला प्रकाशचन्द्रजी जैन, दिल्ली
२०. ,, विजयकुमारजी मलैया, दमोह
२१. ,, श्यामलालजी पांडवीय, मुरार (ग्वालियर)
२२. ,, बैजनाथ सरावगी स्मृतिनिधि-ट्रस्ट, कलकत्ता
२३. ,, सिं० हजारीलाल शिखर-चन्द्रजी जैन, अमरपाटन
२४. ,, सिं० भागचन्द्रजी जैन इटौरया, दमोह
२५. ,, सेठ बाबूलालजी जैन, बाँदा
२६. ,, बा० नन्दलालजी कलकत्ता
२७. श्री सेठ वृजलाल बारेलालजी चिरमिरी
२८. बा० नेमकुमारजी, आरा
२९. ,, सेठ मुन्नालाल भैयालालजी जैन टीकमगढ़
३०. ,, सेठ दयाचन्द बाबूलालजी मैनबारवाले, टीकमगढ़
३१. ,, चतुर्भुज राजारामजी जैन वैद्य, टीकमगढ़
३२. ,, पं० किशोरीलालजी शास्त्री, टीकमगढ़
३३. ,, सेठ धर्मदासजी बजाज, टीकमगढ़
३४. ,, सेठ तुलसीराम लालचन्द्रजी जैन, शाहगढ़
३५. ,, सिं० दौलतराम बाबूलालजी जैन, सोंरई (झाँसी)

३६. श्रीमती धर्मपत्नी सेठ मल्यूराम-जी मड़ावरा (झांसी)
३७. श्री भगवानदासजी जैन सतभैया सागर
३८. श्रीमती सिंघैन चम्पाबाईजी जैन मातेo सिo जीवनकुमारजी जैन, सागर
३९. ,, सिo अमीरचन्द्र देवचन्द्रजी जैन, पाटन
४० ,, लाo फकीरचन्द्रजी जैन, दिल्ली
४१ श्री पंo बारेलालजी डाo कपूर-चन्द्रजी जैन, टीकमगढ
४२ श्रीमती बृजमालाजी जैन, बम्बई
४३. श्री राजवैद्य लाo महावीरप्रसाद जी जैन, दिल्ली
४४. श्री लाo नन्हेंमलजी जैन, दिल्ली
४५. श्री लाo अजितप्रसादजी, दिल्ली
४६. श्री बाo सुकमालचन्दजी जैन, दिल्ली
४७. ब्रo पंo सरदारमल जी जैन, सिरोज
४८. श्री पंo मुन्नालालजी राघेलीय, सागर
४९. ,, बाबू सीतारामजी जैन, वाराणसी
५०. ,, बाo सुमेरचन्दजी जैन, वाराणसी
५१. दिo जैन मन्दिर बिजनौर
५२. ,, पंo कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी
५३. ,, पंo वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना,
५४. ,, डॉ नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा
५५. डॉo दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी
५६. श्री पंo हीरालालजी कौशल, दिल्ली
५७. अo भाo दिo जैन केन्द्रीय, समिति, दमोह
५८. श्री प्रसन्नकुमारजी जैन, गौरझामर
५९. ,, पंo गुलाबचन्द्रजी दर्शनाचार्य जबलपुर
६०. ,, पंo मुन्नालाल चुन्नीलाल जी प्रतिष्ठाचार्य, ललितपुर
६१. ,, सेठ बद्रीप्रसादजी, पटना
६२. ,, बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसी
६३. प्रोo खुशालचन्द्रजी गोरावाला, वाराणसी
६४. श्री शीलचन्द्रजी जैन, वाराणसी
६५. ,, बाo अतुल्यकुमारजी जैन, कलकत्ता
६६. ,, सूरदासजी, ललितपुर
६७ ,, पंo श्यामलालजी जैन, ललितपुर
६८. ,, नीरजजी जैन, सतना
६९. प्रोo भागचन्द्रजी, सीहोर
७०. श्री विमलकुमार निहालचन्दजी जैन, मडावरा
७१. श्री नवलकिशोरजी जैन, गया
७२. सेठ चिरजीलालजी जैन, वर्धा
७३. डाo भागचन्दजी जैन नागपुर
७४. श्री बाo दीपचन्द्रजी जैन, कानपुर
७५. ,, पंo सुरेन्द्रकुमारजी जैन वैद्य, बीना
७६. ,, राo साo चतुरचन्द्रकुमार-जी जैन, आरा
७७. ,, सिo कोमलचन्द्रजी राघेलीय, सागर

७८. ,, मोतीलाल हिराचन्द्रजी गाँधी, औरंगाबाद
७९. श्री ब्र० राजारामजी, भोपाल
८०. ,, डॉ० बाबूलालजी जैन, बण्डा
८१. श्री सेठ प्यारेलालजी, शाहगढ
८२. ,, डॉ० नन्हेलालजी जैन, बण्डा
८३. ,, सेठ धनप्रसादजी मुडरया, बण्डा
८४. श्री भायजी कुन्दनलाल कपूरचन्दजी जैन, बण्डा
८५. ,, रघुवरप्रसादजी बजाज, बण्डा
८६. ,, श्रीमती क्षमाबाईजी जैन, गुलगंज (छतरपुर)
८७ चौ० गुलाबचन्द्र जीवनलालजी बजाज, बण्डा
८८. श्रीमती क्षमाबाईजी जैन, बण्डा
८९. डॉ० पूरणचन्द्रजी जैन, बण्डा
९०. साव श्री कन्हैयालालजी जैन, बण्डा
९१. सि० छोटेलालजी जैन, बण्डा
९२ सि० वट्‌टूलालजी डॉ० मोतीलाल जी जैन, खुरई
९३. श्री ब्र० डालचन्द्रजी टडैया, टोकमगढ
९४. ,, ब्र० जयचन्द्रजी साव, कुण्डलपुर
९५. ,, रज्जूलालजी, बीना
९६. ,, कैलाशचन्द्रजी जैन, गंजबासौदा
९७. ,, पं० बाबूलालजी जमादार बड़ौत
९८. श्री ला० त्रिलोकचन्द्रजी जैन, मेरठ
९९. श्री दि० जैन महिला समाज, फतेहपुर
१००. डॉ० प्रेमसागरजी, बड़ौत
१०१. श्री ला० भगवानदास अर्हद्‌दास जी जैन, सहारनपुर
१०२. ला० विशम्बरदास महावीरप्रसादजी सर्राफ, दिल्ली
१०३. ,, जैनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, दिल्ली
१०४. श्री हुकुमचंद हीरालालजी मोदी, ललितपुर
१०५. ,, श्रीमती सेठानी शांतिबाईजी सिवनी
१०६. ,, लखमीचन्द्रजी गुरहा, खुरई
१०७. ,, रामप्रसाद भैयालालजी ललितपुर
१०८ चौ० फूलचंद पद्मचन्द्रजी ललितपुर
१०९. श्री मनीराम वृजलालजी सर्राफ, ललितपुर
११०. ,, व्रजलालजी प्रानपुरावाले, ललितपुर
१११. ,, हीरालालजी सर्राफ ललितपुर
११२. ,, मुन्नालाल कुन्दनलालजी सर्राफ, ललितपुर
११३. ,, वृजलाल शीलचन्दजी जैन, ललितपुर
११४ श्री सि० रज्जूलालजी, ललितपुर
११५. ,, बाबूलालजी बरया, ललितपुर
११६ श्री करणराय निहालचन्द्र जी जैन, वर्धा
११७. बा० गिन्नीलालजी जैन, कलकत्ता
११८. श्री दि० जैन मंदिर, मुंगावली
११९. ,, जैन आदिराज अण्णा, घोडवाल

१२०. डॉ० राजारामजी जैन, आरा
१२१. प्रो० सुखनन्दनजी जैन, बड़ौत
१२२. ,, खडगसेन उदयराज दि० जैन मंदिर, वाराणसी
१२३. ला० सालिगराम सतीशचन्द्र जैन, आगरा
१२४ ,, नाभिनन्दन दि० जैन मंदिर, बीना
१२५. ,, पं० पन्नालालजी वसन्त साहित्याचार्य, सागर
१२६. ला० शम्भूनाथजी जैन काग-जी, दिल्ली
१२७ श्रीमती धर्मपत्नी श्री जयचंद लालजी फतेहपुर, (बारावंकी)
१२८. ला० जियालालजी जैन, बडौत (मेरठ)
१२९. बा० लक्ष्मीचन्दजी जैन वकील, बडौत
१३०. ला० हुकुमचन्द्रजी जैन, सर्राफ, बडौत (मेरठ)
१३१ श्रीमती सुगन्धीबाईजी जैन सागर
१३२. श्री महावीर दि० जैन पारमा-र्थिक संस्था, सतना
१३३. ,, दि० जैन उदासीन आश्रम, इन्दौर
१३४. ,, रतनलालजी जैन, सरूपगंज (सिरोही)
१३५. ,, दि० जैन स्वाध्याय-गोष्ठी, ऐत्मादपुर
१३६. श्रीमती युवराज्ञी लक्ष्मी-देवीजी, वाराणसी
१३७. ,, विदुषी ब्र० चन्दाबाईजी, आरा
१३८. ,, नानीबहेन डुंगरचन्द्रजी, तलौद
१३९. श्रीमती मणिबहेन श्री केदार लाल हुकुमचन्द्रजी शाह, तलौद
१४०. सिं० भरोसेलाल दयाचन्द्र-जी, मगरपुर
१४१. ,, सेठ भागचन्द्रजी, डौंगरगढ़
१४२. ,, पं० जम्बूप्रसादजी शास्त्री सोंरया, मड़ावरा (झांसी)
१४३. ,, आदीश्वरप्रसादजी जैन, मुजफ्फरनगर
१४४. श्री दि० जैन गणेश वर्णी पुस्त-कालय, कानपुर
१४५. ,, जैनबहादुरजी जैन, कानपुर
१४६. बा० इन्द्रजीतजी जैन, कानपुर
१४७. ,, मदनलाल महाबीरप्रसादजी कानपुर
१४८. श्री मती समुद्रीबाई ध० प० श्री हुकुमचंदजी जैन सतभैया, सागर
१४९. श्री गौरीलालजी अजमेरा, भीलवाडा
१५०. ,, फूलचन्द्र सुरेशचन्द्र जैन, सतना
१५१. डॉ ककूबाई केवलचन्द्र शहा, म्हसवड, सतारा
१५२. ,, एम० के० जैन, रायपुर
१५३. श्री कपूरचन्द्रजी समैया, सागर
१५४. श्री पं० रतनचन्द्रजी समैया, सागर
१५५. श्री दामोदरदास उदयचन्द्रजी जैन, सागर

१५६. ,, चन्द्रकान्तकृष्ण डोर्ले, कोल्हापुर
१५७. ,, रामराव सितलाजी, दोडल, हिंगोली
१५८. श्री रतनलाल किशोरीलालजी मालवीय, नई दिल्ली
१५९. सिं० हरिश्चन्द्रजी जैन, जबलपुर
१६०. बा० श्रवणकुमारजी जैन, कलकत्ता
१६१. बा० हिम्मतसिंहजी जैन, कलकत्ता
१६२. ,, वंशीधर जुगलकिशोरजी सरावगी, कलकत्ता
१६३. सेठ मिश्रीलालजी काला, कलकत्ता
१६४. श्री दि० जैन मन्दिर चौक, भोपाल
१६५. ,, दि० जैन मुमुक्षुमंडल, सराफा चौक, भोपाल
१६६. ,, सुखलाल छोगमलजी सर्राफ, भोपाल
१६७. ,, सिं० उमरावप्रसाद दयाचन्द्र जी जैन, सोंरई (झाँसी)
१६८. श्री सागरमल पन्नालालजी पटवारी, विनौता
१६९. ,, चुन्नीलाल बाबूलालजी भट्ट, खुरई
१७०. श्री मती बालासुन्दरीजी माते० स्व०ला० सुखवीरसिंह श्री चन्द्रजी जैन, बड़ौत
१७१. श्रीमती सुशीलाबाईजी जैन पाठिका, बीना
१७२. साहु श्रीशीतलप्रसादजी जैन, कलकत्ता
१७३. डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, इन्दौर
१७४. डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, उज्जैन
१७५. ,, गुलाबचन्द्रजी जैन, मंत्री वीर वाचनालय, ढाना
१७६. ,, दि० जैन मंदिर, जैसीनगर
१७७. श्रीमती मिथलेशकुमारीजी जैन, कलकत्ता
१७८. श्री बा० जिनेश्वरप्रसादजी टड़ैया, ललितपुर
१७९. ,, गोरेलालजी जैन, भानगढ
१८०. ,, दि० जैन मन्दिर, बड़वानी
१८१. ,, नेमिचन्द्रजी जैन अजमेरा, धरमपुरी (धार)
१८२. श्री केशरलालजी बिलाला जयपुर
१८३. ,, पं० ब्र० माणिकचन्द्रजी, चवरे, न्यायतीर्थ, कारंजा
१८४. ,, दि० जैन महिला समाज, चिलकाना (सहारनपुर)
१८५. ,, दीपचन्द्र मुलायचन्द्रजी मलैया, खुरई
१८६. ,, पन्नालालजी कांकरिया, ब्यावर
१८७. श्रीमती कैलाशवतीजी जैन ध० प० चौधरी जयप्रसादजी जैन, सुल्तानपुर
१८८ श्री प्रो० अमृतलालजी जैन शास्त्री जैनदर्शन-साहित्याचार्य, वाराणसी
१८९. श्री पं० मोहनलालजी शास्त्री, जबलपुर
१९०. डॉ० राजकुमारजी, आगरा

१९१. श्री रिखबचंदजी बैराठी, जयपुर
१९२. ,, श्रीचन्द्रवंशकुमारजी, आसनसोल
१९३. ,, गुलाबचंदजी वैद्य आयुर्वेद शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, ककरवाहा, टीकमगढ़
१९४. ,, मूलचंद फूलचंदजी जैन, ललितपुर
१९५ ,, नेमिचंदजी जैन मगरौनी वाले, शिवपुरी
१९६. ,, गणपतरावसम्राप्पा मिरजे, कोल्हापुर
१९७. ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचंदजी एण्ड कम्पनी, बम्बई
१९८. ,, सेठ बालचद देवचंद शाह, बम्बई
१९९. चौधरी रज्जूलाल मोतीलालजी जैन, अशोकनगर
२००. ,, माणिकचन्द्र वीरचंदजी गांधी, सर्राफ, फल्टन (सतारा) महाराष्ट्र
२०१. ,, चन्द्रप्रभ दि० जैन मंदिर, कटनी
२०२. ,, फूलचंद सौभाग्यमलजी गोधा, इंदौर,
२०३. ला० जयप्रकाश सत्यप्रकाश जी मोटर वाले मुजफ्फरनगर
२०४. बा० शीतलप्रसादजी मित्तल बी० डी० ओ० मुजफ्फरनगर
२९५ ,, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, ललितपुर
२०६. ,, नेमिचंदजी जैन गोंदवाले, शिवपुरी
२०७. श्रीमती चम्पाबाईजी जैन, मलहरा, छतरपुर
२०८. श्रीमती मगनबाईजी c/o श्री भैयालाल मोतीलालजी जैन चक्कीवाले, आर्वी वर्धा
२०९. ,, जगदीशप्रसादजी एम० काम एल० टी०, मुजफ्फरनगर
२१०. ,, सुमेरचंदजी जैन, मुजफ्फरनगर
२११ ,, दि० जैन मंदिर, बहराइच
२१२. श्रीमती सुधा जैन पटोरिया धर्मपत्नी डा० नरेन्द्रकुमार जी जैन, पटोरिया, नागपुर

सूचना—कोई भी महानुभाव एकसौ एक रुपये प्रदान कर ग्रन्थमाला के संरक्षक-सदस्य बन सकते हैं। समिति उनका सादर स्वागत करेगी और उन्हें अपने समस्त प्रकाशित उपलब्ध तथा आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ भेंट करेगी। ग्रन्थों की सूची आगे मुद्रित है।

ग्रन्थमालाके प्रकाशन

१. मेरी जीवन-गाथा	भाग १	तृतीय संस्करण	८.००
२. ,, ,,	भाग २	प्रथम संस्करण	४.२५
३. वर्णीवाणी	भाग १	चतुर्थ संस्करण	६ ००
४. ,, ,,	भाग २	तृतीय संस्करण	४'००
५. ,, ,,	भाग ३	तृतीय संस्करण	६.००
६. ,, ,,	भाग ४	प्रथम संस्करण	३.२५
७. जैन दर्शन		द्वितीय संस्करण	१०.००
८. जैनसाहित्यकी पूर्वपीठिका		प्रथम संस्करण	१०.००
९. पंचाध्यायी			अप्राप्य
१० श्रावक धर्मप्रदीप			४.००
११. तत्त्वार्थसूत्र (विस्तृत हिन्दी-विवेचन सहित)			५.००
१२. द्रव्यसंग्रह भाषावचनिका			४.००
१३. अपभ्रंश-प्रकाश			३'००
१४. मन्दिरवेदी प्रतिष्ठा-कलशारोहणविधि			१.२५
१५. सामायिक पाठ			०'६०
१६ अनेकान्त और स्याद्वाद			अप्राप्य
१७. विश्वशांति और अपरिग्रह			,,
१८. अध्यात्म पत्रावली			१.००
१९. आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत (उत्तर प्रदेश-शासन द्वारा पुरस्कृत)			१२.००
२०. सत्यकी ओर (प्रथम कदम)			१.२५
२१. समयसार-प्रवचन (नया प्रकाशन)			१२.००
२२. जैनसाहित्यका इतिहास भाग २ (प्रेसमें)			१२.००